वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक २ फरवरी २०१०
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक २

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्यों की सूची

१२००. ग्रन्थालय, माँ बम्लेश्वरी मन्दिर ट्रस्ट समिति, डोंगरगढ़ (छ.ग.)
१२०१. प्रो. अवधेश प्रधान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१२०२. श्री ए. के. शुक्ला, ३१७, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)
१२०३. डॉ. जयकिशन चाण्डोक, मेन मार्केट, उत्तरकाशी (उत्तराखण्ड)
१२०४. श्री मैथिलीशरण, स्वर्गाश्रम ट्रस्ट, ऋषिकेश, देहरादून (उत्तराख.)
१२०५. श्री हरिअनन्त कुलश्रेष्ठ, धकरान, नाई की मण्डी, आगरा उ.प्र.
१२०६. श्री सीताराम चन्द्राकर, ग्रा.पो. छटेरा, जिला – रायपुर (छ.ग.)
१२०७. श्री सत्यनारायण शर्मा, ७९५, सेक्टर ७-सी, फरीदाबाद, (हरि.)
१२०८. श्री मदन चौरसिया, लक्ष्मीपुरा, चम्पाबाग, सागर (म.प्र.)
१२०९. सुरेश नारायण अस्थाना, ओल्ड मलकपेठ, हैदराबाद (आ.प्र.)
१२१०. श्री रमेश बाजोरिया, नान्देपेरा मार्ग, वानी, यवतमाल (महा.)
१२११. श्री चन्द्रप्रकाश रामदयाल अग्रवाल, कामठी, नागपुर (महा.)
१२१२. श्री भरत चूड़ीवाल, एम.वी. रोड, अंधेरी ईस्ट, मुंबई (महा.)
१२१३. श्री धन्नालाल सोलंकी, कलवानी, जिला – धार (म.प्र.)
१२१४. आनन्द आश्रम, खेतड़ी नगर, जिला – झुंझुनु (राज.)
१२१५. श्री दिनेश प्रसाद, गोकुल नगर, रुकानपुरा, पटना (बिहार)
१२१६. प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय, ऊना (हिमाचल प्रदेश)
१२१७. प्रो. सूर्यप्रकाश चतुर्वेदी, मल्हारगंज, एम.जी. रोड, इन्दौर (म.प्र.)
१२१८. डॉ. नरेन्द्र के. महाडीक, १९० ऊषानगर एक्स., इन्दौर (म.प्र.)
१२१९. श्री एन.एम. चिमोटे, रचना नगर, गोविन्दपुरा, भोपाल (म.प्र.)
१२२०. श्री मुरारी मिश्रा, सन्त नगर, पो. बरारी, जि. भागलपुर (बिहार)
१२२१. सुश्री शीला जोग, १५९, हनुमान नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
१२२२. डॉ. रश्मि अनिल गवांडे, मरोल, अंधेरी ईस्ट, मुम्बई (महा.)
१२२३. श्री संजय धाकड़, कमला नगर, न्यू भोपालपुरा, उदयपुर (राज.)
१२२४. श्री डी.सी. मित्रा, पंचशील नगर, तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.)
१२२५. श्री प्रदीप कुमार दास, साकेत नगर, हबीबगंज, भोपाल (म.प्र.)
१२२६. श्रीमती मंजु शिव. अय्यर, थिरवानम्यूर, चेन्नई (तमिलनाडु)
१२२७. श्रीमती शोभा मिश्रा, सेमीनरी हिल्स, नागपुर (महा.)
१२२८. श्रीमती मोनिका शर्मा, वेंगटपुरम्, सिकन्दराबाद (आ.प्र.)
१२२९. श्रीमती शीला बडोनिया, सुदामानगर, अन्नपूर्णा से. इन्दौर (म.प्र.)
१२३०. श्री महेन्द्र कुमार वर्मा, भौ.वि., आई.आई.टी. कानपुर (उ.प्र.)
१२३१. श्रीमती यमुना आदिले, सी.एस.पी. जी.सी.एल. कोरबा (छ.ग.)
१२३२. श्री प्रवीणकुमार एन. चंदाराणा, सूरज नगर, यवतमाल (महा.)
१२३३. स्वामी सुविद्यानन्द, रामकृष्ण मिशन सारदा पीठ, बेलूड़ मठ,
१२३४. श्री लोकेश्वर कु. राठोड़, गोरखपुर, जबलपुर (म.प्र.)
१२३५. राजेन्द्र कुमार बन्छोर, पो. जामुल, जि. दुर्ग (छ.ग.)
१२३६. श्री दिनेश जायसवाल, हरदी बाजार, जिला – कोरबा (छ.ग.)
१२३७. प्राचार्य, विवेकानन्द शिक्षा संस्थान, कोटा, रायपुर (छ.ग.)
१२३८. श्री लालजी भाई, पो. सिद्धपुर, जि. पाटन (गुजरात)
१२३९. स्वामी ज्ञानमयानन्द, पो. दिनापानी, जि. अलमोड़ा (उत्तरा.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४८ **फरवरी २०१०** **अंक २**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः
स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः ।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरसं समृच्छति ।।११९।।

अन्वय – विशुद्ध-सत्त्वस्य गुणाः (भवन्ति) प्रसादः स्व-आत्मा-अनुभूतिः परमा प्रशान्तिः तृप्तिः प्रहर्षः (तथा) परमात्म-निष्ठा यया सदानन्द-रसं समृच्छति ।

अर्थ – प्रसन्नता, आत्म-स्वरूप का बोध, परम शान्ति, तृप्ति, अत्यन्त आनन्द, परमात्मा में निष्ठा; जिनके द्वारा निरन्तर आनन्द-रस का बोध होता रहता है – ये विशुद्ध सत्त्वगुण के लक्षण हैं।

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं
तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः ।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था
प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः ।।१२०।।

अन्वय – त्रिगुणैः निरुक्तं एतत् अव्यक्तम्, तत् आत्मनः कारणं नाम शरीरम् (अस्ति) । एतस्य प्रलीन-सर्वेन्द्रिय-बुद्धि-वृत्ति विभक्ति-अवस्था सुषुप्तिः (भवति) ।

अर्थ – सत्त्व, रज तथा तम – इन तीन गुणों द्वारा जिस 'अव्यक्त' का वर्णन किया जाता है, वह आत्मा का 'कारण' शरीर है। जब इस (कारण-शरीर-अभिमानी आत्मा) को (जाग्रत तथा स्वप्न से) भिन्न उस अवस्था की प्राप्ति होती है, जिसमें इन्द्रियों तथा बुद्धि की सारी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, तो उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्ति-
र्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः ।
सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः
किंचिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धेः ।।१२१।।

अन्वय – सर्व-प्रकार-प्रमिति-प्रशान्तिः बुद्धेः बीज-आत्मना एव अवस्थितिः सुषुप्तिः । '(अहम्) किंचित् न वेद्मि' – इति जगत्-प्रसिद्धेः एतस्य प्रतीतिः किल ।

अर्थ – सभी प्रकार के विषयों के ज्ञान की निवृत्ति और बुद्धि के बीज या सूक्ष्म रूप से आत्मा (अर्थात् अविद्या रूप कारण शरीर) में निवास को 'सुषुप्ति' (गहरी निद्रा) की अवस्था कहते हैं। "मैं कुछ भी नहीं जानता" – यह पूरे जगत् का अनुभव होने के कारण सभी को इस (अविद्या रूप कारण शरीर) का बोध सम्भव है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः
सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।
व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्व-
मव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ।।१२२।।

अन्वय – देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-अहम्-आदयः, विषयाः, सुखादयः, सर्वे विकाराः, व्योम-आदि-भूतानि च अव्यक्त-पर्यन्तं अखिलं विश्वं इदं हि अनात्मा ।

अर्थ – देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, अहंकार आदि हर तरह के विकार (परिवर्तनशील वस्तुएँ), इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्शादि) विषय, सुख-दुःख आदि, आकाश आदि पंच महाभूत और अव्यक्त तक सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड – यह सब अनात्मा है।

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

(भीमपलासी–कहरवा)

हे रामकृष्ण मम अन्तर में,
तुम आओ नित्य निवास करो।
निज चिन्मय रूप प्रगट करके,
मोहान्धकार का नाश करो।।

जग को निर्मल सुखमय करने,
तुम फिर आये हो इस युग में,
कर धर्म-प्रतिष्ठापन जग में,
सबके भव-भय-पीड़ा करने;
अपनी करुणा के सौरभ से,
जन-जीवन वास-सुवास करो।।

जीवन-पथ है अज्ञात मुझे,
मैं भटक गया हूँ माया में,
विषमय विषयों से भ्रमित हुआ,
थक कर चरणों में आया मैं;
शरणागत दास तुम्हारा हूँ,
सच कहता हूँ विश्वास करो।।

तव पद्मपुंज सम चरणों में,
चित मेरा प्रतिपल लगा रहे,
तुम मातु-पिता, मम बन्धु-सखा,
यह बोध सतत ही बना रहे;
होठों पर चिर बसनेवाली,
अपनी वह मधुमय हास करो।।

तव कर्मों में ही मेरा यह,
तन-मन-जीवन सब लगा रहे,
तव स्मरण-मनन में मेरा चित,
प्रभु सदा-सर्वदा पगा रहे;
जब अन्त समय ही आ पहुँचे,
करके 'विदेह' निज पास करो।।

विश्व के पथ-प्रदर्शक

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

ऋषि कौन थे?

वेदान्त नामक ज्ञानराशि ऋषि नामधारी व्यक्तियों के द्वारा आविष्कृत हुई। ऋषि शब्द का अर्थ है – मंत्रद्रष्टा। उन्होंने पहले ही से विद्यमान ज्ञान को प्रत्यक्ष किया था; वह ज्ञान तथा भाव उनके अपने विचार का फल नहीं था। जब कभी तुम सुनो कि वेदों के अमुक अंश के ऋषि अमुक हैं, तब यह मत सोचो कि उन्होंने उसे लिखा या अपनी बुद्धि द्वारा रचा है, बल्कि वे पहले से ही विद्यमान भावराशि के द्रष्टा मात्र हैं – वे भाव अनादि काल से ही इस संसार में विद्यमान थे, ऋषि ने उनका आविष्कार मात्र किया। ऋषिगण आध्यात्मिक आविष्कारक थे।[२]

ऋषि कौन हैं? उपनिषद् कहती हैं कि 'ऋषि कोई साधारण व्यक्ति नहीं, वे मंत्रद्रष्टा हैं।' ऋषि वे हैं, जिन्होंने धर्म को प्रत्यक्ष किया है, जिनके लिये धर्म – केवल पुस्तकों का अध्ययन, या युक्तजाल, या व्यावसायिक ज्ञान या वाग्वितण्डा मात्र नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव है, अतीन्द्रिय सत्य का साक्षात् बोध है। यही ऋषित्व है।[३]

चेतना पंचेन्द्रियों द्वारा सीमाबद्ध है। आध्यात्मिक जगत् के सत्य को प्राप्त करने के लिये मनुष्यों को चेतना की अतीत भूमि में, इन्द्रियों के परे जाना होगा। अब भी ऐसे व्यक्ति हैं, जो पंचेन्द्रियों की सीमा के परे जा सकते हैं। ये ऋषि कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया है।

जिस प्रकार हम अपने सामने के इस मेज को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं, उसी प्रकार वेदोक्त सत्यों का प्रमाण भी प्रत्यक्ष अनुभव है। यह हम इन्द्रियों से देख रहे हैं और आध्यात्मिक सत्यों का भी हम जीवात्मा की ज्ञानातीत अवस्था में साक्षात् करते हैं। ऐसा ऋषित्व प्राप्त करना देश, काल, लिंग या जाति-विशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता। वात्स्यायन निर्भयतापूर्वक घोषणा करते हैं कि यह ऋषित्व – ऋषियों की सन्तानों, आर्यों, अनार्यों; और यहाँ तक कि म्लेच्छों की भी संयुक्त सम्पत्ति है।

यही वेदों का ऋषित्व है। हमको भारतीय धर्म के इस आदर्श को सर्वदा स्मरण रखना होगा; और मेरी तो इच्छा है कि संसार की अन्य जातियाँ भी इस आदर्श को समझकर याद रखें, क्योंकि इससे धार्मिक लड़ाई-झगड़े कम हो जाएँगे। शास्त्र-ग्रन्थों में धर्म नहीं होता; या फिर सिद्धान्तों, मतवादों, चर्चाओं या तार्किक उक्तियों में भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो स्वयं होने तथा बनने की चीज है। मेरे मित्रो, जब तक तुम ऋषि नहीं बनोगे और जब तक तुम्हारा आध्यात्मिक सत्यों के साथ साक्षात्कार नहीं होगा, तब तक तुम्हारा धार्मिक जीवन आरम्भ ही नहीं हुआ है।[४]

हमारे समाज के नेता कभी सेनानायक या राजा नहीं, अपितु ऋषि थे। ... यह ऋषित्व किसी आयु या समय या किसी सम्प्रदाय या जाति की अपेक्षा नहीं रखता। वात्स्यायन कहते हैं – "सत्य का साक्षात्कार करना होगा और स्मरण रखना होगा कि हममें से प्रत्येक को ऋषि होना है।" साथ ही हमें अगाध आत्मविश्वास से भी सम्पन्न होना चाहिये। हम लोग सारे संसार में शक्ति-संचार करेंगे; क्योंकि सारी शक्ति हममें ही विद्यमान है। हमें धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना होगा, उसकी उपलब्धि करनी होगी, तभी हम ऋषित्व की उज्ज्वल ज्योति से पूर्ण होकर महापुरुष-पद प्राप्त कर सकेंगे, तभी हमारे मुख से जो वाणी निकलेगी, वह सुरक्षा की असीम स्वीकृति से पूर्ण होगी।[५]

श्रुति और धर्माचार्य

केवल हमारे धर्म को छोड़कर संसार में प्रत्येक अन्य धर्म किसी धर्म-प्रवर्तक अथवा धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। ईसाई धर्म ईसा के, इस्लाम मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म तिर्थंकरों के और अन्य धर्म अन्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये इन महापुरुषों के जीवन के ऐतिहासिक प्रमाणों को लेकर उन धर्मों में जो काफी वाद-विवाद होता है, वह स्वाभाविक है। यदि कभी इन प्राचीन महापुरुषों के अस्तित्व-विषयक ऐतिहासिक प्रमाण दुर्बल होते हैं, तो उनकी धर्मरूपी अट्टालिका गिरकर चकनाचूर हो जाती है। हमारा धर्म व्यक्ति-विशेष पर नहीं, अपितु सनातन सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है, अत: हम उस संकट से मुक्त हैं। ऐसा नहीं है कि किसी महापुरुष, यहाँ तक कि किसी अवतार के कथन को ही तुम

अपना धर्म मानते हो। कृष्ण की वाणी से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती; बल्कि वे ही वेदों के अनुगामी हैं, इसी कारण कृष्ण के वाक्य प्रमाण माने जाते हैं। कृष्ण वेदों के प्रमाण नहीं हैं, अपितु वेद ही कृष्ण के प्रमाण हैं। कृष्ण की महानता इस बात में है कि वेदों के जितने प्रचारक हुए हैं, वे ही उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्य अवतारों तथा सभी ऋषियों के सन्दर्भ में भी ऐसा ही समझो।[६]

हमारा प्रथम सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति या उसकी मुक्ति के लिये, जो कुछ आवश्यक है, उसका वर्णन वेदों में है। कोई और नया आविष्कार नहीं हो सकता। समस्त ज्ञान के चरम लक्ष्य-स्वरूप पूर्ण एकत्व के आगे तुम कभी बढ़ नहीं सकते। इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार बहुत पहले ही वेदों ने किया है, इससे अधिक अग्रसर होना असम्भव है। **तत्त्वमसि** – (वह ब्रह्म तुम्हीं हो) का आविष्कार होते ही आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह '**तत्त्वमसि**' वेदों में ही है। विभिन्न स्थान, काल, परिस्थिति तथा परिवेश के अनुसार समय-समय पर लोगों को केवल इसकी शिक्षा देना ही बाकी रह गया था। इस प्राचीन सनातन मार्ग पर व्यक्तियों का चलना ही शेष रह गया था। इसीलिये बीच-बीच में विभिन्न आचार्यों तथा महापुरुषों का आविर्भाव होता रहता है। उस तत्त्व का वर्णन गीता में श्रीकृष्ण की इस प्रसिद्ध वाणी के अतिरिक्त ऐसे सुन्दर और स्पष्ट रूप से अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। ४/७

– "हे अर्जुन, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं धर्म की रक्षा तथा अधर्म के नाश हेतु समय-समय पर अवतार लेता रहता हूँ।" यही भारतीय धारणा है।[७]

जिस प्रकार हमारे ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं, ठीक उसी प्रकार हमारा धर्म भी पूर्णत: निर्गुण है – अर्थात् हमारा धर्म किसी व्यक्ति-विशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता; तथापि इसमें असंख्य अवतार तथा महापुरुष स्थान पा सकते हैं। हमारे धर्म में जितने अवतार, महापुरुष और ऋषि हैं, उतने अन्य किस धर्म में हैं? इतना ही नहीं, हमारा धर्म यहाँ तक कहता है कि वर्तमान तथा भविष्य में और भी अनेक महापुरुष तथा अवतार आदि आविर्भूत होंगे। श्रीमद्-भागवत में कहा है – **अवतारा: ह्यसंख्येया:**। अत: हमारे धर्म में नये-नये धर्म-प्रवर्तकों के आने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है।[८]

हमारे ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही समझ लिया था कि मानव-जाति के अधिकांश लोगों को एक व्यक्तित्व की जरूरत है। उनको किसी-न-किसी प्रकार का साकार ईश्वर चाहिये। जिन बुद्धदेव ने साकार ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था, उनके देहत्याग के बाद पचास वर्षों के भीतर ही उनके शिष्यों ने उनको ईश्वर मान लिया। साकार ईश्वर की भी आवश्यकता है और हम जानते हैं कि साकार ईश्वर की वृथा कल्पनाओं से भी बढ़कर, सजीव ईश्वर इस लोक में बीच-बीच में उत्पन्न होकर हम लोगों के बीच रहते भी हैं। ... किसी भी प्रकार काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, हमारी किसी भी काल्पनिक रचना की अपेक्षा, अर्थात् हम ईश्वर-विषयक जो भी धारणा बना सकते हैं, उसकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जो भी धारणा रख सकते हैं, उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं, अधिक जीवन्त आदर्श हैं। इसीलिये सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं।

हमारे ऋषि यह बात जानते थे, इसीलिये उन्होंने सारे भारतवासियों के लिये इन महापुरुषों की, इन अवतारों की पूजा का मार्ग खोल दिया है। इतना ही नहीं, जो हमारे सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने और भी आगे बढ़कर कहा है –

यद्यद्-विभूतिमत्-सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम्।। गीता, १०/४१

– "मनुष्यों में जहाँ भी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ, मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।" यह हिन्दुओं के लिये सभी देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं।[९]

तुम चाहे जिस अवतार या आचार्य को अपने जीवन का आदर्श बनाकर विशेष रूप से उपासना करना चाहो, कर सकते हो। यहाँ तक कि तुमको यह सोचने की भी स्वाधीनता है कि जिसको तुमने स्वीकार किया है, वे सब पैगम्बरों में महान् है, सब अवतारों में श्रेष्ठ है; इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु तुम्हारे धर्म-साधन की नींव सनातन तत्त्व-समूह पर ही होनी चाहिये। यहाँ अद्भुत तथ्य यह है कि हमारे अवतार वहीं तक मान्य हैं, जहाँ तक वे वैदिक सनातन सत्य सिद्धान्तों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।[१०] ❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. १९-२०; **३**. वही, खण्ड ५, पृ. ७१; **४**. वही, खण्ड ५, पृ. १४८; **५**. वही, खण्ड ५, पृ. ७१-७२; **६**. वही, खण्ड ५, पृ. १४४; **७**. वही, खण्ड ५, पृ. १४४-४५; **८**. वही, खण्ड ५, पृ. ८०; **९**. वही, खण्ड ५, पृ. १४५-४६; **१०**. वही, खण्ड ५, पृ. ८०-८१;
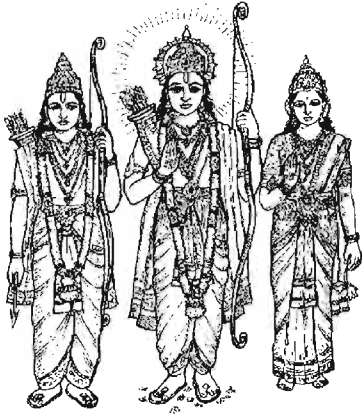
नाम की महिमा (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

साधना का मूल तत्त्व यह है कि संसार के व्यवहार से निराश होकर हम यह अनुभव करें कि हमारे अन्त:करण की आशा को पूरी करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। आशाएँ पूरी भी भला कैसे हो? एक व्यक्ति आशा करनेवाला और दूसरा पूरी करनेवाला हो, तब तो हो जाय, परन्तु जब दोनों ही एक दूसरे से आशा लगायें, तो आशा कैसे पूरी होगी?

विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने इसे **हाथी स्वान लेवा देही** कहा है। एक व्यक्ति के पास हाथी था। दूसरे व्यक्ति ने सोचा यह हाथी मुझे मिल जाय। – कैसे? बोले – मैं इसे अपना कुत्ता दे दूँ और यह मुझे अपना हाथी दे दे। कुत्ते के बदले हाथी माँगते हुए उसने कहा – "देखिए, आपको मैं कितनी बढ़िया वस्तु दे रहा हूँ!" हम लोग जब किसी को देने की बात करते हैं, तो कहते हैं – यह कितनी अच्छी चीज आपको दे रहा हूँ, आप पर कितना उपकार कर रहा हूँ। पूछा – कैसे? बोले – "आपका हाथी तो बहुत खाता है और आपके लिए बड़ा बोझ है। पर मेरा यह कुत्ता तो पहरेदारी भी करता है। इसलिए हाथी रखकर क्या करेंगे? हमें दे दीजिए और कुत्ता आप रख लीजिए।" पर जब किसी के सामने कुत्ते के बदले हाथी देने का प्रस्ताव रखा जाय, तो उसके मन में भी यह बात आती है कि यदि कुत्ते के बदले में हाथी देना है, तो क्यों न कागज का हाथी दे दें। पूछेंगे कि कागज का हाथी क्यों दे रहे हो, तो कहेंगे कि ऐसा हाथी दे रहा हूँ, जो जरा भी नहीं खायेगा। आपको यही तो डर था कि हाथी बहुत खायेगा? तो यह कागजवाला हाथी बिलकुल नहीं खाएगा।

मानो सभी एक दूसरे से आशा लगाए हुए हैं, एक दूसरे को ठगना चाहते हैं। इस प्रकार जब दो व्यक्ति एक दूसरे से आशा लगायें, तो टकराहट तथा संघर्ष हुए बिना नहीं रहेगा। **संसार के व्यवहार से हमारे अन्त:करण में नैराश्य का उदय होना चाहिये।** अपनी कमियों को देखकर नैराश्य का उदय होना चाहिये। जीवन में नैराश्य एक तो साधन की दृष्टि से हो सकता है और दूसरा प्रकृतिजन्य है। जो प्राकृतिक रूप से निराश स्वभाव के लोग हैं, वे तो दु:खी रहा करते हैं, वे कभी आगे बढ़ते ही नहीं है। परन्तु **कुछ लोग नैराश्य को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।** वह वृत्ति श्रीभरत के चरित्र में है, और वह यह है कि मैं लौट चलूँ, तब –

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ।। २/२३३/६

जब माता कैकेयी की ओर दृष्टि जाती है, अपनी ओर दृष्टि जाती है, तो पैर रुकता है और जब प्रभु के स्वभाव की ओर दृष्टि जाती है, तो गति में तीव्रता आ जाती है। यदि कोई पूछे कि अभी तो आप यह कह रहे थे – मेरे कारण प्रभु को इतना कष्ट हो रहा है – **मोहि समान को पाप निवासू।** (२/१७८/३) और अब तेजी से भागे क्यों जा रहे हैं? तो वही आशा वाला स्वर – मुझमें यह कमी अवश्य है, पर मैं जिनके पास जा रहा हूँ, वे तो कमियों को देखकर किसी से घृणा नहीं करते, किसी का त्याग नहीं करते। अत: मैं चाहे जैसा भी होऊँ, प्रभु मुझे निश्चित रूप से स्वीकार करेंगे –

जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस। २/१८३

इस प्रसंग में भी यही संकेत है। ताड़का के रूप में जो दुराशा की वृत्ति है, इसे मिटाना है। पर इस दुराशा की वृत्ति को मिटाना बड़े-से-बड़े व्यक्ति के लिए सरल नहीं है। जो बड़े भले लोग होते हैं, बड़े समाज-सेवक या महापुरुष होते हैं, उनके जीवन में क्या नैराश्य नहीं आता? – आता है, क्योंकि जिनके शिष्य हैं, जिनके पास साधक हैं, या जो लोगों का निर्माण करना चाहते हैं, जब वे देखते हैं कि इतना प्रयत्न करने के बाद भी उन साधकों या शिष्यों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया, तो उनमें निराशा आ सकती है।

यह संकेत सर्वत्र आता है। भागवत में नैराश्य के विषय में जो वाक्य कहा गया, उसमें बड़ा सार्थक संकेत है। उसमें एक पक्ष यह है कि सूर्यवंश और यदुवंश धन्य है, जिनमें भगवान ने जन्म लिया। पर भगवान श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में उसमें एक दूसरी बात कही गई कि संसार के लोग तो अभागे थे, परन्तु यदुवंशी सबसे बड़े अभागे थे। जिस वंश में भगवान ने जन्म लिया, उसे अभागा क्यों कहा गया? उन्होंने कहा – यह बात तब ध्यान में आई जब यदुवंशियों में अनेक दोष आ गये। यदुवंशी समुद्र के किनारे भगवान के देखते-देखते सुरा पीकर आपस में लड़कर मर गये – इससे बढ़कर

सृष्टि का नैराश्यपूर्ण चित्र और क्या हो सकता है?

भगवान कृष्ण के चरित्र में एक वाक्य कह दिया गया कि लोगों का – अपनी पत्नियों-पुत्रों का व्यवहार देखकर श्रीकृष्ण के अन्त:करण में वैराग्य हो गया – 'वैराग्य संजायते'। श्रीकृष्ण तो ज्ञान-वैराग्य के घनीभूत रूप हैं। पर अन्ततोगत्वा यदि हम सृष्टि के व्यवहार पर दृष्टि डालें, बड़े-से-बड़े व्यक्ति के जीवन पर दृष्टि डालें, तो यही अनुभव करेंगे कि शायद हम जैसा निर्माण करना चाहते थे वह नहीं कर पाए; जो निकट के लोग हैं, जिनको परिवर्तन करने की चेष्टा की जाती है, जिनमें परिवर्तन होना चाहिए था, उसमें भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार का नैराश्य जब किसी महापुरुष के जीवन में आता है, तो उसमें वैराग्य का उदय होता है। वैराग्य-वृत्ति के उदय का तात्पर्य यह है कि तब मन में यह बात नहीं रहती है कि मैं लोगों को बदल सकता हूँ।

बड़ी सुन्दर बात आती है। भगवान राम को रोते देखकर सती को मोह हो गया और बाद में उनका पार्वतीजी के रूप में जन्म हुआ। तब भगवान शंकर ने कथा सुनाई और सती का भ्रम दूर हो गया। भगवान विष्णु की कभी शंकरजी से भेंट हुई, तो उन्होंने कहा कि सतीजी को बड़ा भ्रम हो गया था। शंकरजी बोले – मैंने सती का भ्रम तो दूर कर दिया, पर मेरा भ्रम आपने दूर किया। प्रभु ने कहा – "कौन-सा भ्रम? आपको तो कोई भ्रम नहीं था। आपने तो मुझे रोते हुए देखकर नाटक में भी मुझे पहचान लिया, ब्रह्म ही समझा। आपको कहाँ भ्रम था?" शंकरजी बोले – "जब मैं आपकी कथा सुन रहा था, अगस्त्य मुनि ने बताया कि प्रभु इस समय दण्डकारण्य में ही विराज रहे हैं, तो मन में हुआ कि चलकर दर्शन कर लें, परन्तु मेरी बुद्धि ने तुरन्त मुझसे यह कहा कि यदि मैं श्रीराम के पास जाऊँगा, तो प्रणाम जरूर करूँगा। और यह देखकर हर व्यक्ति समझ जायगा कि शंकर जिनको प्रणाम करते हैं, वे ईश्वर छोड़कर और कौन हो सकते हैं –

गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ ।। १/४८

मैंने सोचा कि इससे प्रभु का नाटक बिगड़ जायेगा। अत: न जाना ही ठीक होगा। प्रभो, मैं तो सोच रहा था कि मैं आपके नाटक की रक्षा कर रहा हूँ और कितना त्याग कर रहा हूँ कि आपका दर्शन करने नहीं जा रहा हूँ। परन्तु आपने अनोखा खेल किया। मैं नहीं गया, तो आप स्वयं दर्शन देने चले आये।" जब भगवान सामने आ गये, तो शंकरजी क्या करें? उन्होंने तो जैसा करना चाहिए था –"जय सच्चिदानन्द, जय जगपावन" – कहकर प्रभु को प्रणाम किया –

जय सच्चिदानंद जगपावन ।
अस कहि चलेउ मनोज नसवान ।। १/५०/३

सतीजी ने प्रणाम करते हुए देखा तो इतना संशय उनके मन में उत्पन्न हुआ कि वे सोचने लगीं – शंकरजी की सारा जगत् वन्दना करता है, वे जगत् के ईश्वर हैं, देवता, मनुष्य, मुनि सब उनके प्रति सिर नवाते हैं। उन्होंने एक राजपुत्र को सच्चिदानन्द परधाम कहकर प्रणाम किया –

संकरु जगतबंद्य जगदीसा ।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा ।।
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा ।
कहि सच्चिदानंद परधामा ।। १/५०/६-७

बोले – प्रभो, मुझे प्रणाम करते हुए देखकर जब सती को संशय हो गया, तो मैं समझ गया कि मेरा भ्रम तोड़ने हेतु ही आपने लीला की है। – क्या? – "मैं सोच रहा था कि प्रणाम करूँगा, तो संसार के लोग जान जाएँगे, पर आपने दिखा दिया कि पहले अपनी पत्नी से मनवा लीजिए फिर संसार से मनवाइएगा। आप मुझे प्रणाम कर रहे हैं और आपकी पत्नी तक मुझे ईश्वर मानने को तैयार नहीं है, यह क्या है?" भगवान शंकर इसको किस सन्दर्भ में लेते हैं? शंकरजी का पद त्रिभुवन गुरु का पद है –

तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना ।। १/१११/५

शंकरजी के जीवन में क्या नैराश्य नहीं उत्पन्न हुआ होगा? सती के हृदय में भ्रम देखकर और यह देखकर कि मेरे समझाने से भी सन्देह दूर नहीं होता –

मोरेहु कहें न संसय जाहीं । १/५२/६

आश्चर्य है ! श्रद्धा बढ़ना तो दूर की बात, सती का संशय और भी बढ़ गया। शंकरजी को कितनी बड़ी हार दिखाई दे रही है ! शंकरजी विश्वास हैं, पर अपनी पत्नी का संशय दूर नहीं कर सके। जो महानतम विश्वास जहर पी लेने की क्षमता रखता है, वह भी सती का संशय दूर नहीं कर सका। शंकरजी ने कहा – प्रभो, आपकी माया के खेल के सामने सारा गुरुत्व रखा रह जाता है। – कैसे? बोले – आपने सन्देह के लिए चुना भी तो मेरे ही परिवार के दो सदस्यों को – या तो मेरे चेले रावण को या मेरी पत्नी सती को। दोनों को ही आपके विषय में भ्रम हो गया, तो फिर मैं क्या दावा करूँ कि मैं दूसरे का भ्रम दूर कर सकता हूँ, दूसरे का निर्माण कर सकता हूँ। निर्माण का अहंकार – सात्त्विक अहंकार है। इसे मिटाने के लिए यह पक्ष अति आवश्यक है, इसका अनुभव भगवान शंकर तक करते हैं।

भगवान कृष्ण भी नरलीला में इसका अनुभव इसी रूप में करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के वास्तविक स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन की चेष्टा करने पर भी, उसकी एक सीमा है। एक दिन हमारे पं. ज्वालाप्रसाद जी ने प्रश्न किया था – इसमें विभाजक रेखा क्या है? इसका उत्तर यह है कि **सृष्टि का अन्त तो वैराग्य से ही होगा ।** परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वैराग्य के नाम पर व्यक्ति प्रारम्भ से ही निष्क्रिय हो जाय। वैराग्य का एक तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन में

निष्क्रियता आ जाय, कुछ न करने की वृत्ति आ जाय। इस प्रकार का वैराग्य समय से पहले का वैराग्य है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार की अन्तिम परिणति वैराग्य के रूप में ही होगी।

एक दृष्टान्त लेते हैं। किसी व्यक्ति को रोग हो और वह डॉक्टर के पास जाय। डॉक्टर उसे उपदेश देने लगे कि यह संसार मिथ्या है, शरीर मिथ्या है, नाशवान है। तो क्या रोगी प्रसन्न होगा कि चलो, अच्छा सत्संग मिला? रोगी को तो जरा भी प्रसन्नता नहीं होगी। न तो डॉक्टर का ही यह कर्तव्य है कि वह शरीर की नश्वरता का उपदेश करे, या निराशा की बातें करे। वह तो रोग दूर करने के लिए औषधि देगा। उस समय औषधि का ही महत्त्व है और औषधि ही देना चाहिए। पर उसकी अन्तिम परिणति क्या होगी, डॉक्टर उस रोग को तो दूर कर देगा, पर अन्ततोगत्वा व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। औषधि के द्वारा बार-बार रोग का निवारण करने पर भी अन्त में ऐसा रोग आ जाता है, जिसका निराकरण वह नहीं कर सकता। इसकी अन्तिम परिणति तो केवल वैराग्य में ही हो सकती है। जीवन का एक पक्ष पुरुषार्थ है और दूसरा है मृत्यु – उसकी बेबसी है, शरीर की नश्वरता है। वह दोनों को – जिस समय जिसको स्वीकार करना चाहिए, उस समय उसको स्वीकार करे।

मैं वह संस्मरण कभी भूलता नहीं। एक वैद्यजी ने एक नया मकान बनवाया और उसमें उद्घाटन के अवसर पर भजन गाने के लिए किसी गायक को निमंत्रण दिया। गाने के लिए आए सज्जन ने बिन्दुजी का पद प्रारम्भ किया –

रे मन, ये दो दिन का मेला रहेगा।
कायम न जग का झमेला रहेगा।।
... एक दिन ये ठठरी का ठेला रहेगा। ...

वैद्यजी ने तुरन्त बन्द करने के लिए कहा कि क्या यही सुनने के लिए तुम्हें बुलाया है। अब पहले से व्यक्ति यह मान ले कि ठठरी का ठेला रहेगा, तो शरीर का कोई उपयोग नहीं है, तो न व्यायाम करने की जरूरत है, न दवा की। घर टूट जायेगा, तो घर बनाने की भी जरूरत नहीं। यह तो असमय की बात हुई। परन्तु इतना होते हुए भी अन्तिम पक्ष जो होगा, वह वैराग्य का पक्ष ही होगा, निर्माण का नहीं। यह ठीक है कि जीवन सत्य है, पर शरीर का नाश तो अवश्यम्भावी सत्य है, मकान छोड़ना पड़ेगा, यह अन्तिम रूप से निश्चित सत्य है, इसको कोई झुठला नहीं सकता।

सृष्टि को हम भी बदलने की चेष्टा करते हैं, जैसा भगवान शंकर ने किया, सती को समझाने की चेष्टा की। नहीं समझीं, तो दुखी हुए। अपने प्रति महत्व-बुद्धि पर भी थोड़ा ध्यान गया। 'मोरेउ कहे' – मेरे कहने पर भी, नहीं समझीं, तब तो ब्रह्मा विपरीत हो गये हैं। उनकी भलाई नहीं होगी –

मोरेहु कहें न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।। १/५२/६

यहाँ एक नई बात जुड़ गई। किसी ने शंकरजी को याद दिलाया – अच्छा, तो आपके यहाँ भी 'विधि विपरीत' का प्रभाव पड़ने लगा? सुना तो यह गया है कि आप ब्रह्मा की गति को भी टाल देते हैं। तो ऐसी स्थिति में आपके मुँह से निकल रहा है – 'विधाता ही विपरीत हैं, अब सती का कुशल नहीं है।' शंकरजी ने और आगे देखा, मुस्कराने लगे – ओह, यह ब्रह्मा का खेल थोड़े ही है? ब्रह्मा के पीछे कौन है? बोले – जो कुछ राम ने रच रखा है, वही होगा –

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा।। १/५२/७

मुझे इस वास्तविकता का बोध हुआ कि सबके मूल में ईश्वर ही है और मैंने अपना कर्तव्य किया। गुरु अपने गुरुत्व का अभिमान करे, शिष्य के परिवर्तन की प्रक्रिया को अपनी वस्तु मान ले, तो इससे मिथ्याभिमान की सृष्टि होगी कि मैं सृष्टि को बदल सकता हूँ। पर अन्ततः सृष्टि का स्वरूप नश्वर है, परिवर्तनशील है। सृष्टि को व्यक्ति विचारपूर्वक देखे, हंस की दृष्टि से देखे, इसीलिए तीनों को हंस के रूप में जोड़ा गया – वैराग्य हंस है, विचार हंस है और ज्ञान हंस है –

ग्यान बिराग बिचार मराला।। १/३७/७

वैराग्य कहने का अभिप्राय यह कि सृष्टि में निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी, परिवर्तन के लिए पूर्ण शक्ति लगा देने के बाद भी कोई-न-कोई नैराश्य का पक्ष जरूर मिलेगा।

इतना पूर्ण रामराज्य बना, सारा समाज बदल गया, परन्तु उसमें भी एक धोबी निकल आया। यही जीवन की वास्तविकता का एक पक्ष है – प्रत्येक निर्माता के मन में यह ध्यान बना रहे, वह निर्माण करने की चेष्टा करता हुआ भी यह गर्व न पाले कि हम सब कुछ बदल देंगे; और असफल होने पर निराश होकर परिवर्तन की प्रक्रिया को ही न छोड़ दे।

संसार की स्थिति या अपनी ओर देखकर जब नैराश्य की वृत्ति आती है, तो उसके बाद ध्यान कहाँ चला जाता है? – एकमात्र भगवान की ओर। भगवान ही तो नर-रूप में लीला करते हुए श्रीराम या श्रीकृष्ण के रूप में इस पक्ष को प्रगट करते हैं। अन्ततः हमारे अन्तःकरण में संसार से वैराग्य हो, नैराश्य हो और हमारे अन्तर्मन की आशा भगवान में लीन हो जाय। अब आशा करेंगे, तो एकमात्र भगवान से करेंगे; विश्वास और भरोसा करेंगे, तो एकमात्र भगवान से ही करेंगे।

इस दुराशा का वध महर्षि विश्वामित्र जैसा महापुरुष भी नहीं कर पाया। उन्होंने भगवान श्रीराम से अनुरोध किया। भगवान श्रीराम एक ही बाण से उसे दुराशा-रूपी ताड़का को मारते हैं और वह जाकर भगवान में विलीन हो जाती है –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।

दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। १/२०९/६

उसके बाद बड़े महत्त्व का सूत्र आया। विश्वामित्रजी भगवान को पहचान गये और जिन विद्याओं का, जिन शस्त्रों तथा शास्त्रों का ज्ञान था, अतिबला जैसी सिद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त थीं, वह सब अब उन्होंने भगवान राम को दे दिया –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १/२०९/७

यह बड़ी विचित्र बात हुई। यदि वे श्रीराम को भगवान न समझकर विद्यार्थी समझते होते और विद्या देते, तो यह युक्तिसंगत होता। परन्तु जब भगवान समझ गये, तब देने का क्या अर्थ है? गोस्वामीजी ने सूत्र दिया – देना दो तरह से होता है। नदी हम लोगों को जल देती है, परन्तु वही नदी जब समुद्र की ओर बह रही है, तो क्या वह समुद्र को जल देने जा रही है? दिखाई तो यही दे रहा है कि नदी का जल जाकर समुद्र में गिरा। पहले नदी ने व्यक्ति को जल दिया और उसके बाद समुद्र को जल दिया। नदी से पूछा गया कि जहाँ इतना जल भरा हुआ है, वहाँ तुम्हारे जल देने की क्या जरूरत है? तुम हम लोगों को जल पिलाओ, यह तो ठीक है, पर समुद्र में जाकर जल देने की क्या जरूरत है?

नदी बोली – आप लोगों ने जल पी लिया, आपकी प्यास बुझ गई, पर मैं भी तो प्यासी हूँ। पर मेरी प्यास समुद्र में गये बिना नहीं बुझेगी। मेरे जल की भी सीमा है, मेरा भी नाम है, रूप है; बरसात में बढ़ जाती हूँ, गर्मियों में घट जाती हूँ, कभी मुझमें अत्यल्प जल रह जाता है। मुझमें भी ये समस्याएँ हैं। इन सबका समाधान तब होगा, जब मैं समुद्र में जाकर पूरी तौर से विलीन हो जाऊँगी। यही सच्चा समर्पण है। विद्या अब तक व्यक्ति के पास थी, अभी तक उसे छात्रों को दिया जाता था, परन्तु अब समर्पण की यह वृत्ति उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई? इसमें संकेत क्या है?

सबसे अच्छा लेन-देन वहीं होता है, जिसमें कम दें और बदले में अधिक चाहे और विश्वामित्र ने देख लिया कि ईश्वर के यहाँ लेन-देन बहुत अच्छा है। ताड़का का वध हो जाने पर किसी ने भगवान राम से पूछा कि आपने ताड़का से क्या व्यवहार किया? वे बोले – लेन-देन का व्यवहार किया। ताड़का के पास जो सबसे अच्छा था, उसे मैंने लिया और मेरे पास जो सबसे अच्छा था, वह मैंने दे दिया – नश्वर शरीर का प्राण लेकर, अपना चिरन्तन शाश्वत पद दे दिया –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। १/२०९/६

विश्वामित्र ने कहा – महाराज, यहाँ लेन-देन बहुत बढ़िया है। जब राक्षसी से आप इतना बढ़िया लेन-देन करते हैं, तो मैं समझ गया, यदि मैं आपको विद्या दूँगा, तो बदले में आप स्वयं को देंगे। और क्या दे सकते हैं?

इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवन की दुराशा, संसार की स्थिति को देखकर जो नैराश्य से जो वैराग्य उत्पन्न हो, वह अन्ततोगत्वा भगवान से जुड़े। भगवान के प्रति हमारे मन में समर्पण की वृत्ति उत्पन्न हो और भगवान से एकाकार होकर हमारे जीवन में पूर्णता की अनुभूति हो।

इसी प्रकार नाम-जप का उद्देश्य क्या है? ताड़का भेदबुद्धि है और आप उस भेदबुद्धि को मिटाने के लिये मंत्र का जप कर रहे हैं। कई लोग तो मंत्रजप इसीलिए करते हैं कि हमारे पड़ोसी या हमारे शत्रु की मृत्यु हो जाय। आप भेदबुद्धि मिटाने के लिए जप करते हैं या भेदबुद्धि बढ़ाने के लिये? यदि हम केवल अपने भौतिक सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए, सामने वाला व्यक्ति मेरे वशीभूत हो जाय और वह हमारी कामनाओं की पूर्ति करे, इसके लिये जप कर रहे हैं, तब तो हम नाम की क्षमता का दुरुपयोग कर रहे हैं।

दार्शनिक रूप में यह नाम क्या है? इसे हम एक दृष्टि से देखें तो त्रैत है, दूसरी दृष्टि से देखें तो द्वैत है और तीसरी दृष्टि से देखें तो अद्वैत है। 'र' और 'म' दो अक्षर है। इन दोनों के बीच में मात्रा है 'अ'। 'र' और 'म' के बीच में मात्रा जो है, यही माया का प्रतीक है। 'र' माने ब्रह्म, 'म' माने जीव और दोनों के बीच का 'अ'कार ही माया है –

रकारार्थो जीवः सगुण परस्वरे जलदि ।
मकारार्थो जीवः सकल विदि संकैकदि निपुणः ।।

यदि इसके बहिरंग रूप को देखें, तो यह जीव, ब्रह्म और माया है। रामायण में कहीं तो तीन के रूप में वर्णन किया गया है और कहीं पर दो के रूप में। अब इसको 'अ' की मात्रा अलग न करके और समेटिए तो दो के रूप में 'रा' और 'म' – जीव और ब्रह्म रह गये। अक्षर को छोड़कर जब शब्द तत्त्व पर विचार करेंगे, तो न त्रैत रह गया और न द्वैत। एक शुद्ध शब्द 'राम' रह गया। तो प्रारम्भ में 'तीन' हैं – जीव, माया तथा ब्रह्म। बाद में ज्ञान के द्वारा माया दूर हुई, तो जीव और ब्रह्म 'दो' रह गये। और अन्त में जीव और ब्रह्म एकाकार हो गये, तो दोनों में मानो रंच मात्र भी अभिन्नता नहीं रह गई। इस तरह से भगवान के नाम का जाप करते हुए हम नाम के निरूपण पर विचार करके देखें।

व्यवहार की दृष्टि से देखें, तो मूल में एकमात्र 'राम' या 'ॐ' – एक ही शब्द था और उसके द्वारा सृष्टि का सृजन कैसे हुआ, कैसे एक से तीन बने और तीन से संसार बना –

बंदउँ नाम राम रघुबर को ।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।।
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो ।
अगुन अनूपम गुन निधान सो ।। १/१९/१-२

अत: नाम तत्त्व का जप करते हुए हमारे अन्तर्मन में उस

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आत्माराम के संस्मरण (२०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

स्वामी देवीपुरीजी और उनका मठ

१९२२ ई. का अन्तिम समय। परम पूज्यपाद अभेदानन्दजी काश्मीर आदि का भ्रमण करके कनखल (हरिद्वार) लौट आये हैं। सेवाश्रम की ओर से संन्यासी को ही उनकी सेवा में हाजिर रहने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। उनके साथ एक ब्रह्मचारी सेवक भी थे। उनका सारा कार्य वे ही करते। केवल उनके साथ बातचीत करना तथा उन्हें घुमाने ले जाना – ये ही दो कार्य संन्यासी को करने पड़ते। बड़े (कल्याणानन्दजी) तथा छोटे (निश्चयानन्द) स्वामीजी सेवाश्रम के कार्य में व्यस्त रहा करते थे, अत: बीच-बीच में आकर उनके पास बैठते और उनके साथ बातें करते। संन्यासी पर उनकी ... दृष्टि पड़ी, जब भारत में उन्होंने सर्वप्रथम संन्यास तथा ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की, क्योंकि संन्यासी को ही उसमें आचार्य का कार्य करना करना पड़ा था। उन्हीं के आदेश पर सब कुछ हुआ था। कल्याणानन्दजी ने पूज्य महापुरुष महाराज (बेलूड़ मठ के अध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी) को पत्र लिखकर इसके लिये अनुमति ले ली थी। जहाँ तक स्मरण आता है, उनमें एक तो स्वामी ऋतानन्द थे, जो बाद में बिहार के मुजफ्फरपुर नगर में कार्य करते थे। दूसरे थे गोष्ठ महाराज और तीसरे ब्रह्मचारी का नाम मुझे स्मरण नहीं है। उनके आदेश पर भोर के समय संन्यासी की दीक्षा हुई और सुबह ब्रह्मचर्य की। यथारीति विरजा होम किया गया था। ब्रह्मचर्य के मंत्र आदि के पाठ में ब्रह्मचारी पण्डितजी ने सहायता की। ये महापुरुष महाराज के शिष्य थे। बाद में ऋषीकेश के जिस भीषण बाढ़ में बहुत-से साधु मारे गये थे, उनमें वे भी एक थे। संन्यासी तथा सिद्धानन्दजी ने जिन दो कुटियों का निर्माण किया था, बाढ़ के समय वे उन्हीं में से एक में निवास कर रहे थे।

एक दिन अभेदानन्दजी महाराज ने संन्यासी से कहा – ''देख, भगिनी निवेदिता कहा करती थीं कि लुधियाना के पास ही किसी गाँव में नागा संन्यासी तोतापुरी (श्रीरामकृष्ण के वेदान्त-गुरु) का मठ था। तू तो इधर ही रहता है, जरा खोज कर न ! उधर ही कहीं एक पुराने साधु रहते हैं, उनका देवीपुरी नाम है। हो सकता है कि वे तोतापुरी के सम्प्रदाय से ही जुड़े हों।'' संन्यासी राजी हुआ और उन्हें वचन दिया कि उनके कनखल से विदा होते ही वह निकल पड़ेगा।

उनके प्रस्थान करने के बाद संन्यासी लुधियाना गया। इस खोज को पूरा करके काश्मीर जाने का उसका विचार था। वाराणसी से राम दादा तथा स्वामी दयानन्द के साथ कनखल तक आने के बावजूद पैसे के अभाव में उसका काश्मीर जाना नहीं हो सका था। उसने अलग से जाने का निश्चय किया था। वैसे काश्मीर के मार्तण्ड (या मट्टन) मन्दिर में उन लोगों से भेंट हुई थी। उनका साथी वह नहीं हुआ। एक अन्य पंजाबी मण्डली के साथ अमरनाथ-दर्शन तक था। उसके बाद वे लोग अपने रास्ते चले गये और वह अपने रास्ते।

लुधियाना में पूछताछ करने पर पता चला कि किला रायपुर ग्राम में स्वामी देवीपुरीजी निवास करते हैं। संन्यासी के उस आश्रम में पहुँचते ही वहाँ के साधुओं ने उसका हार्दिक स्वागत किया, विशेषकर एक नेपाली साधु ने। ये पहले ऋषीकेश के नेपाली बाबा के पास रहते थे। संन्यासी बीच-बीच में उनके संध्या के सत्र में भिक्षा के लिये जाया करता था। वे बड़े यत्नपूर्वक अलग बैठाकर भरपेट खिलाते थे। रामकृष्ण संघ का साधु होने के कारण यह उनकी विशेष अनुकम्पा थी। वे स्वामीजी (विवेकानन्द) के साथ ऋषीकेश में थे और बाद में हरि महाराज आदि के साथ भी रहे। इन साधु ने संन्यासी को परोसकर खिलाया था, इसीलिये देखते ही बड़े खुश हुए।

विशाल गोलाकार एम्पीथियेटर जैसा हॉल था, जिसमें

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अक्षर तत्त्व का केवल दिखाई देनेवाले जो रूप है, उस पर भी हम एकाग्र होकर चिन्तन करें – तीन से दो में और दो से एक में; इसीलिए प्रणव को लिखने की पद्धति बड़ी सांकेतिक है। उसमें भी अ उ म तीन हैं। लेकिन कितने ढंग से तीनों अक्षरों को एक में प्रदर्शित किया जाता है। और उसका भी अभिप्राय यही है कि तीन जब शुद्ध एक के रूप में दिखाई देने लगे, तो मानो जप की उसकी परिपूर्णता है।

ताड़का अलग थी, भिन्न थी, वह भगवान में समा गई, विलीन हो गई, द्वैत बुद्धि मिट गई, दुराशा की वृत्ति मिट गई। एकमात्र भगवान और विद्या विद्यानिधि भगवान के प्रति जाकर उनमें समा गई। इस तरह नाम-जप के दिव्य प्रभाव का संकेत गोस्वामीजी ने किया। ❖ **(क्रमशः)** ❖

२६ चारपाइयाँ लगी हुई थीं। प्रत्येक खाट के दोनों तरफ खुले द्वार थे। बीच में इतनी जगह थी कि दो-ढाई सौ लोग बैठ सकते थे। यहीं कथा होती है, देवीपुरीजी 'उपदेश' देते हैं। उन्हीं खाटों में से एक पर संन्यासी को भी स्थान मिला। वहाँ और भी १०-१२ साधु थे। खाने को एक बार रोटियाँ मिलती थीं और रात में डेढ़ पाव दूध। सुबह बादाम का शर्बत (सर्दाई) दिया जाता था। खाने के समय जो भी आता है, थाली लेकर बैठ जाता है। किसी को भी मना करने का नियम नहीं है। जो अन्न रहता है, सब दे दिया जाता है। यदि रोटियाँ कम पड़ जायँ, तो तत्काल रसोई नहीं बनायी जाती। तब आश्रमवासी रात में रोटियाँ बनाकर खाते हैं।

वे नेपाली साधु ही सुबह संन्यासी के लिये सर्दाई ले आये और दोपहर को ले जाकर पंगत में बैठाया। रात में दूध देने का भार भी उन्होंने स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया।

देवीपुरीजी की तबीयत खराब थी। बुखार होने के कारण वे किसी से मिल-जुल नहीं रहे थे। इसीलिये संन्यासी को प्रतीक्षा करने के लिये कहा गया था।

तीन-चार दिन बाद, एक दिन नेपाली साधु दिखायी नहीं दिये। बाकी साधु लोग भी चुपचाप कहीं गायब हो गये थे। संन्यासी प्रतीक्षा करता रहा। परन्तु खाने के लिये बुलावा भी नहीं आया। मामला क्या है? बूढ़े बाबाजी को कहीं कुछ हुआ तो नहीं! पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे ठीक हैं और आश्रम के साधु तथा कर्मी लोग अन्य गाँव में अनाज लाने गये हैं, शाम तक लौटेंगे। बाकी साधु चुपचाप लगभग एक मील दूर स्थित पास के गाँव में भिक्षा करने चले गये थे।

शाम को लौटते ही नेपाली साधु ने पूछा – "स्वामीजी, लगता है आज आपका खाना नहीं हुआ।" "नहीं" – कहने पर खेद व्यक्त करते हुए बोले – "मुझसे ही भूल हुई है, जाने के पहले बताकर जाना उचित था कि सभी आश्रमवासी अनाज लाने के लिये दूसरे गाँव में जा रहे हैं, आने में देरी होगी। भण्डार खुला ही रहता है, इच्छा होने पर दो टिक्कड़ बनाकर खा लेते, या फिर अन्य साधुओं के साथ गाँव में चले जाते। गाँव में जाने से ही कोई-न-कोई खिला देता। महाराज के प्रताप से पूरा ग्राम ही साधु-भक्त हो गया है। हर रोज १०-११ बजे आश्रम का एक कर्मी बाँक (दो टोकरियाँ, जिनमें दाल तथा सब्जी के लिये हण्डियाँ रहती हैं) लेकर 'नारायण हरि' बोलता हुआ जाता है। लोग बहुत-सा रोटी-दाल देते हैं, जिसमें से अधिकांश आश्रम में ही व्यय हो जाता है। जो साधु गाँव में भिक्षा करने जाते थे, उन्हें बुखार हुआ है, इसीलिये वे गये नहीं। देखते हैं न, प्रतिदिन ४०-५० लोग तो हो ही जाते हैं, किसी-किसी दिन उससे भी अधिक हो जाते हैं। गुरु महाराज का आदेश है, 'किसी को भी मना नहीं करना। जो थोड़ा-बहुत होगा, उसे हिसाब करके बाँट देना। स्वयं बाद में बनाकर खा लेना। ध्यान रहे, अतिथि भूखा न रह जाय।' और उनके आदेश पर आश्रम का भण्डार खुला ही रहता है। कोई भी साधु जाकर अपनी इच्छानुसार पकाकर खा सकता है।

"एक नियम और है – गुरुभाइयों में भी कोई किसी पर हुकुम नहीं चलायेगा। इच्छा हुई तो कार्य करेगा, किसी के न करने पर जिससे हो सकेगा, वह करेगा। कोई यदि नहीं कर सकेगा, तो क्या काम पड़ा रहेगा! ये जो इतने सारे कमरे तथा मकान देख रहे हैं, इनमें से अधिकांश हम साधुओं ने ही तो बनाये हैं। (सारे मकान सुन्दर और मजबूत पंजाबी ढंग के थे।) पैसे जुटाने या मिस्त्री बुलाने का नियम नहीं है। यदि कोई गृहस्थ भक्त स्वेच्छापूर्वक मजदूरी कर दे, तो आपत्ति नहीं है, परन्तु इसके लिये अनुरोध करना मना है। यहाँ तक कि स्वयं गुरु महाराज भी हम लोगों को कार्य के विषय में कोई 'आदेश' नहीं देते। आदेश है तो यही कि 'समझ-बूझकर करो, स्वेच्छापूर्वक करो'। मान लीजिये कि आपके मन में इस बाड़ी तथा बगीचे में कहीं एक कमरा बनाने की इच्छा हुई, तो आपको कोई मना नहीं करेगा। आपको स्वयं ही सारी मेहनत करनी होगी। कोई स्वयं चाहे तो सहायता कर सकता है, परन्तु किसी से अनुरोध नहीं कर सकते।"

सुनकर संन्यासी तो अवाक् रह गया। विशाल भवन, बगीचा, गाय-बैल, भैसें, ऊँट-घोड़े – यह सब आश्रम की सम्पत्ति है। रहट चल रहा है, बगीचे में पानी दिया जा रहा है, सारे कार्य हो रहे हैं, परन्तु सभी लोग अपनी-अपनी इच्छा से ही इतने सारे कार्य कर रहे हैं। कोई आदेश नहीं, कोई निर्देश नहीं! ऐसा तो उसने कहीं सुना नहीं था। अद्‌भुत!

इसके बाद एक दिन देवीपुरीजी का दर्शन मिला। वे अब भी बाहर नहीं निकलते। कमरे में ही रहते हैं। कमरा गुफा-जैसा छोटा-सा है और उसमें जाने के लिये अन्य कमरों के भीतर से जाकर फिर एक सीढ़ी चढ़नी पड़ती है। उस सीढ़ी को हटा लेने पर उसमें जाने का कोई उपाय नहीं है। संन्यासी ने उनके एक शिष्य के साथ भीतर जाकर देखा – कमरे में कोई साज-सामान नहीं है। केवल एक चटाई है, जिस पर वे बैठते हैं और रात में सोते हैं। पहनने के लिये केवल कौपीन है और शुद्ध ऊन का एक पतला कम्बल है। एक ईंट से तकिये का काम हो जाता है। सुन्दर लिपा-पुता कमरा; सब – यहाँ तक कि छत भी मिट्टी का बना होने के कारण खूब ठण्डा रहता है। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इसलिये संन्यासी ने केवल इतना ही पूछा कि वे तोतापुरीजी को जानते हैं या नहीं? उत्तर – "नहीं, किसी नागा अखाड़ा के लोगों से पूछिये।" बस, संन्यासी वापस लौट आया।

रात को दस बजे उनके प्रधान संन्यासी शिष्य, जो डॉक्टर भी थे, उन नेपाली साधु के साथ आ पहुँचे। ये पुरीजी की अस्वस्थता की बात सुनकर उसी दिन काश्मीर से लौटे थे।

डॉक्टर – "आपको हमारी एक सहायता करनी होगी, इसीलिये अनुरोध करने आया हूँ।"

संन्यासी – "क्या कार्य है कहिये, सामर्थ्य होने पर अवश्य करूँगा।"

डॉक्टर – "यह जो विशाल बगीचा और भवन देख रहे हैं, इसकी कोई कानूनी लिखा-पढ़ी नहीं हुई है। गुरु महाराज साठ वर्ष से भी अधिक काल पूर्व यहाँ आये थे। तभी उनका यहाँ के जमींदार सरदारजी के साथ परिचय हुआ। महाराज ने उनसे पूछा – 'बगीचे की झोपड़ी में रहूँ?' बोले – 'रहिये।' बस! तभी से हैं। उसके बाद हम लोग आये और क्रमश: मकान-बगीचे आदि सब बनाये। अब ये भी वृद्ध हो गये हैं और सरदारजी भी। वे किसी भी दिन इस दुनिया से प्रयाण कर सकते हैं। अत: हम लोगों ने गुरु महाराज से कहा कि उनके रहते-रहते ही कुछ लिखा-पढ़ी हो जाय, तो अच्छा है। वे बोले – 'एक बात में हूँ और एक बात में छोड़कर चला जाऊँगा। "रहो" – कहने से हूँ, "जाओ" – कहने से चला जाऊँगा।' परन्तु स्वामीजी, हम लोगों ने इतनी मेहनत करके इतना सब जो बनाया है, वह सारा-का-सारा नष्ट हो जायेगा। उनसे कहने पर कहते हैं – 'बनाया ही क्यों? सरदार या उसके उत्तराधिकारियों ने यदि छोड़ने को कहा, तो क्या यह सब उठाकर ले जाओगे?' हमने उन्हें रामकृष्ण मिशन संस्था के बारे में बताया है। उन्हें इस आश्रम के विषय में जो कुछ कहना है, वह आपको भी कहने के लिये राजी हुए हैं। स्वामीजी, यदि आप उनसे थोड़ा कहें!"

संन्यासी – "ठीक है, समय निर्धारित करके बताइयेगा। परन्तु उनकी बातें सुनकर यदि कुछ कहने लायक रहा, तभी कहूँगा; नहीं रहा, तो इन महान् त्यागी के चरणों में प्रणाम करके चुपचाप लौट आऊँगा।"

अगले दिन सुबह ८-९ बजे बुलावा आया। उसी सीढ़ी से चढ़कर उनके पाँच शिष्य तथा संन्यासी उस गुफानुमा कमरे में पहुँचे। महापुरुष शान्त भाव से बैठे थे। डॉक्टर शिष्य ने ही बात आरम्भ करते हुए विनयपूर्वक निवेदन किया कि 'कुछ लिखा-पढ़ी न होने से भक्तों तथा साधुओं के लिये कैसा कष्टकर हो सकता है।' पुरीजी संन्यासी की ओर उन्मुख होकर बोले – "रहो – कहा तो रहा, जाओ – कहने से चला जाऊँगा। यह लिखाने आदि की बात तो मुझसे नहीं बनेगी।"

संन्यासी – "ठीक बात है महाराज, लेकिन मुझे क्षमा कीजिये – जब ये लोग मकान आदि बनाने में लगे थे, तब तो आपने इनसे कुछ नहीं कहा। अगर आप जरा-सा इशारा भी कर देते, तो शायद ये लोग कुछ नहीं करते।"

शिष्य लोग (एक साथ) – "निश्चय ही नहीं करते।"

डॉक्टर – "हाँ, आपने ठीक कहा है। 'एक बात में हूँ और एक बात में चला जाऊँगा' – यह बात यदि ये हमें पहले बताते, तो हम लोग यह सब कुछ भी नहीं बनाते।"

वे काफी देर तक चुप बैठे रहे, सोचते रहे, उसके बाद संन्यासी से बोले – "सचमुच ही मुझसे भूल हुई है, परन्तु मैं स्वयं कुछ कह नहीं सकूँगा। और इन लोगों से भी नहीं कह सकूँगा कि 'तुम लोग जाकर कहो।"

संन्यासी – "ठीक है महाराज, ये लोग अपने स्वयं के उत्तरदायित्व से जायेंगे।"

पुरीजी – "तो ठीक है, परन्तु सरदारजी यदि कहें – 'चले जाओ', तो फिर मैं तत्काल चला जाऊँगा, एक मुहूर्त के लिये भी नहीं ठहरूँगा।"

संन्यासी ने डॉक्टर से कहा – "इसके बाद अब और कोई बात नहीं होगी।" सभी लोग चले आये।

कैसे त्यागी हैं! अद्‌भुत त्यागमय जीवन है इनका!

अगले दिन डॉक्टर स्वामी सरदारजी के पास गये और विनयपूर्वक उनसे बोले कि थोड़ा लिखा-पढ़ी रहे, तो अच्छा होगा। वे थोड़ा-सा हँसे और तत्काल बोले – "अरे, बही-खाता लाओ। लिख लो कि इसे दान किया गया है।"

बस, देना-लेना हो गया। धन्य हो सरदारजी!

पुनः वाराणसी में

कई वर्ष बाद पुन: वाराणसी जाना हुआ। अकेले ही था। सूर्योदय से सूर्यास्त तक क्रमश: सिर में दर्द होता। शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। होम्योपैथी चिकित्सा से थोड़ा सुधार था। स्वास्थ्य-लाभ के लिये पुन: काशी आना हुआ है। पिताजी के दीक्षा-गुरु भट्टाचार्य महाशय के मकान में ठहरने को जगह मिली है। हाजी कटरे में बड़ा पुराना मकान है। परिव्राजक कृष्णानन्द स्वामी के योगाश्रम के निकट स्थित है। उन लोगों का संग मिलता और मिशन के आश्रम के साधुओं का भी संग मिलता। उस मकान में बड़े-बड़े चूहे थे – बिल्ली के बच्चों के समान बड़े-बड़े, और निर्भय भी थे। दिन के समय भी वे घूमते-फिरते रहते। भोजन के समय ५-७ घेरकर बैठ जाते। रोटी के टुकड़े देने पर खाते और सम्भवत: इसीलिये किसी भी दिन उन्होंने काटा नहीं था।

इसी मकान में मास्टरजी थे – काकोरी लूट (बम) केस के प्रधान व्यक्ति के पिता। उस समय ये सब लड़के छोटे थे, स्कूल में पढ़ते थे। उनकी माँ उन्माद रोग से ग्रस्त थी – मास्टरजी को प्राय: ही उनके ऊपर हाथ उठाना पड़ता। परन्तु मास्टरजी भले आदमी थे, उदार मन के थे, परन्तु कठोर कर्तव्य-परायण होने के कारण थोड़ा भी इधर-उधर होने से बच्चों को भी खूब पीटते। स्कूल के मास्टर थे – बच्चों को पीटने का स्वभाव हो गया था।

ब्रिटिश विरोधी थे – स्वदेशी मनोभाव के कारण बड़े गरम होकर साम्राज्य के उच्छेदन की बात कहते। यह भी कहते कि बम के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। सो उनका एक पुत्र उसी पथ का यात्री हुआ। बड़े ऊँचे दर्जे का क्रान्तिकारी हुआ।

अस्तु। अब वह काशी में प्रतिदिन रात को योग-वाशिष्ठ ग्रन्थ पढ़ा करता था। बड़ा अच्छा लगता था। चूहे पूरे घर में, बिस्तर के ऊपर भी घूमते रहते थे। और उनके बीच लड़ाई-झगड़े भी चलते रहते थे। परन्तु वे शरीर के ऊपर नहीं आते थे। एक दिन वह पढ़ रहा था, वशिष्ठ बोले – "राम, ये ही बातें मैंने तुमसे अनेक बार कही हैं और ये सब लोग भी उन अवसरों पर उपस्थित थे।"

इसी प्रकार सारे दृश्य चक्रवत् घूमकर आते रहते हैं। पढ़कर सिर घूम गया। अरे, तो क्या वे ही राम, वही अयोध्या, वही सीता-हरण, वही रावण-वध चलता रहेगा – यह कैसी बात ! तब तो मुक्ति – मोक्ष का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता ! सब कुछ कल्प की 'सीमा' के भीतर है, बस ! बाद में फिर यथावत् आना होगा।

रात में नींद नहीं आयी। जाड़े के दिन थे। भोर में स्नान आदि करके विक्टोरिया पार्क में टहलने गया था। अभी-अभी सूर्योदय हुआ है। बड़ा फाटक खुलते ही एक अन्धे भिखारी को उसके लोग फाटक के पास बैठा गये। पाँव की आवाज सुनकर सम्भवत: भिक्षा की आशा में, उसने जो कुछ कहा, उसे सुनते ही सारा संशय चला गया – राम के सिवा कोई दूसरा नहीं; होगा भी तो वैसा नहीं।"

भगवान ने मानो अन्धे के मुख से परम सत्य कहा। लगता है कि योग-वाशिष्ठ में – **यथा पूर्वं अकल्पयत्** – इसका यह अर्थ किया गया है कि राम आयेंगे – कृष्ण होकर, बुद्ध होकर या उसी प्रकार के कोई अवतार होकर, परन्तु राम – दुबारा दशरथ के पुत्र होकर नहीं आयेंगे। होगा भी तो वैसा नहीं होगा।" यदि जन्म भी लें, तो फिर वैसे ही नहीं होंगे। कितनी सुन्दर बात है ! यही ठीक प्रतीत हुआ। अन्धे ने केवल एक बार ही कहा था और मिलनेवाला वही प्रथम व्यक्ति था। इसे सुनते ही चित्त से सारे संशय दूर हुए और प्रसन्नता छा गयी। जेब में हाथ डालकर देखा – केवल दो आने थे। वही उसे दिया। अधिक होता, तो अधिक देता। सुना था कि भगवान कभी-कभी बालक, उन्मत्त तथा अन्धे के मुख से परम सत्य की बात बताते हैं। सोचा – क्या यह वही बात है !

स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में एक स्थान पर इसी 'थियरी' – मतवाद का उल्लेख किया है। यह एक मान्यता मात्र है और कहते हैं कि शंकराचार्य उसी मत के थे।

कुछ जानने योग्य बातें (पी १८५-७)

बालकों में कई बार अतीन्द्रिय शक्ति प्रकट होते देखने में आती है। आयु में वृद्धि होने पर यह लुप्त हो जाती है।

(१) ढाई-तीन साल का एक बालक। ग्रामोफोन का कोई भी रेकार्ड बोलते ही ढूँढ़कर बाहर निकाल देता। संन्यासी के समक्ष करीब दो दर्जन रेकार्ड रखकर, उससे जो भी गाना कहा गया, उसने तुरन्त उन पर हाथ फेरकर ठीक वही रेकार्ड बाहर निकाल दिया। देखने में सभी रेकार्ड एक ही तरह के थे और बड़ों के लिये भी उन्हें बिना पढ़े निकाल पाना सम्भव नहीं था। वह कैसे समझ लेता था, यह बताने की भाषा उसके पास नहीं थी, इसीलिये यह जानना सम्भव नहीं था।

(२) एक अन्य चार साल का बालक था भूतू। संन्यासी को जो वस्त्र, बिस्तर का चादर आदि उपयोग करने के लिये दिया गया था, सूँघकर बता देता – 'साधु-साधु गन्ध'। एक बार उसकी परीक्षा करने के लिये संन्यासी के बिस्तर के चादर को सोडा-साबुन से धोकर अन्य वैसे ही चादरों के साथ मिलाकर रख दिया गया था। अब बालक से उसे ढूँढ़कर निकालने को कहा गया। सभी चादर एक ही प्रकार के थे। केवल हर एक के कोने पर चिह्न लगा हुआ था, जिसे देखकर कौन-सा किसका है, यह जानना सम्भव हो पाता था। भूतू तत्काल सभी चादरों को सूँघने लगा और आश्चर्य की बात ! यह रहा – 'साधु-साधु गन्ध' कहते हुए उसने ठीक उस चादर को बाहर निकाल दिया।

पुलिस के कुत्तों में यह शक्ति विशेष रूप से विकसित रहती है, इसीलिये एक बार यदि उसे कुछ सुँघा दिया जाय, तो वह ठीक याद रखता है और चोर या खूनी को ठीक पकड़ लेता है। रास्ते से असंख्य लोग चले जाते हैं, कितने ही वाहन चले जाते हैं, परन्तु व्यक्ति का गन्ध नष्ट नहीं होता – वैसे ही रह जाता है, जिसे सूँघकर कुत्ता उसे खोज निकालने में सफल होता है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर का गन्ध (गन्ध-तन्मात्रा) भिन्न होता है और वह किसी प्रकार भी नष्ट नहीं होता। प्रकृति देवी की इस अद्‌भुत सृष्टि को वैज्ञानिकों ने जान लिया है, हमारे ऋषियों ने काफी काल पूर्व ही जान लिया था। इसकी सत्यता इस भूतू नामक बालक के द्वारा सहज ही प्रमाणित हुई थी। बड़े होने के बाद उसकी वह शक्ति चली गयी थी।

(३) गोविन्द साढ़े चार या पाँच साल का रहा होगा। थोड़ा बीमार था। माँ की गोद में था। दोपहर का समय। सहसा बोल उठा – "माँ, जल गया !" माँ बोली – "क्या चीज रे?" बालक – "हाँ, देखा, जल गया।" उसकी मौसी उस समय बहुत दूर – दो-ढाई सौ मील दूर थे। बाद में पता चला कि ठीक उसी समय उनके घर में आग लग गयी थी, परन्तु वे बच गयीं, देह को आँच तक नहीं लगी। संन्यासी उस समय गोविन्द के ही घर पर था। ❖ (क्रमशः) ❖

जब आवै सन्तोष धन

स्वामी सत्यरूपानन्द

असीम के राज्य में अनन्त मार्गों से पहुँचा जा सकता है, किन्तु गन्तव्य तक पहुँचने के लिये किसी एक मार्ग का अवलम्बन एवं अनुसरण अनिवार्य होता है। अनन्त के राज्य में ले जाने वाले ये मार्ग ही साधना-प्रणालियों के नाम से जाने जाते हैं।

पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र में एक तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने दान और धैर्य के पथ को अनन्त के राज्य में जाने के लिये चुना था। अतिथि सेवा उनके दैनंदिन धर्म का एक प्रमुख अंग थी। आगन्तुक अतिथि की सेवा में निष्ठापूर्वक लगे रहना उनका व्रत था।

ऋषि मुद्‌गल के इस व्रत की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। अनेक साधु-सन्त, त्यागी-तपस्वी उनकी सेवा से परितृप्त हो चुके थे। ऋषि भी अविचल भाव से सेवा परायण हो अतिथि सेवा में तत्पर रहते थे।

प्रेय की सीमा को लाँघकर ही श्रेय की सीमा में प्रवेश पाया जा सकता है। प्रेय बाह्य जगत की वस्तुओं पर आधारित होता है। बाह्यजगत की वस्तुयें अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अत: प्रेय का आधार भी निरन्तर बदलता रहता है। परिणास्वरूप प्रेयार्थी अस्थिर और अशान्त रहता है। श्रेय का आधार आत्मा है। आत्मा नित्य और अपरिवर्तनशील है। फलस्वरूप श्रेयार्थी शान्त एवं स्थिर रहता है।

इस ध्रुव सत्य को तपस्वी मुद्‌गल ने हृदयंगम कर लिया था। इसीलिये उन्होंने प्रेय वस्तुओं का त्याग कर उच्छ वृत्ति से जीवन यापन का मार्ग अपनाया था। खेत-खलिहानों आदि से वे अन्न के गिरे हुये दाने चुन लाते। जो कुछ थोड़ा अन्न मिल जाता, उसी से भोजन बनाकर अपने इष्ट देवता को समर्पित करते और अतिथि-सेवा के पश्चात् अपना भरण-पोषण किया करते।

तपस्वी मुद्‌गल के इस व्रत की ख्याति महर्षि दुर्वासा ने भी सुनी। उन्होंने मुद्‌गल की परीक्षा लेने का निश्चय किया और वे मुद्‌गल के आश्रम की ओर चल पड़े। उन दिनों दुर्वासा ने अपना रूप अत्यन्त ही विचित्र बना लिया था। वे दिगम्बर रहते थे। उन्होंने अपना सिर मुँड़वा लिया था। उनकी चेष्टायें उन्मत्तवत् होती थीं तथा वे अत्यन्त कटु एवं कर्कश शब्दों का व्यवहार करते थे।

आश्रम के द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने कर्कश सम्बोधन द्वारा ब्राह्मण को पुकारा। मुद्‌गल तुरन्त आश्रम के द्वार पर आये। उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक ऋषि दुर्वाशा को प्रणाम किया और उन्हें आदरपूर्वक आश्रम में लिवा ले गये।

दुर्वासा ने कहा, "विप्रवर ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि यहाँ मैं भोजन की इच्छा से आया हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन की व्यवस्था करो।" मुद्‌गल के पास जो कुछ भी अन्न था, उसका भोजन बनाकर उन्होंने ऋषि दुर्वासा की सेवा में अर्पित किया। परोसा हुआ भोजन उन्होंने शीघ्र ही खा लिया तथा और भोजन की माँग की। मुद्‌गल ने बचा हुआ भोजन फिर परोस दिया। दुर्वासा ने जितना खाते बन पड़ा उतना तो खा लिया और शेष भोजन जूठा कर अपने शरीर में लपेट लिया। तत्पश्चात् वे कर्कश वचन कहते हुये वहाँ से चल दिये।

तपस्वी मुद्‌गल उच्छवृत्ति से जीवन निर्वाह करते थे, अत: उन्हें प्रतिदिन भोजन नहीं मिल पाता था। कभी सप्ताह में दो दिन तो कभी एक ही दिन भोजन की व्यवस्था हो पाती थी। इस बार भी उन्हें भोजन किये हुय एक सप्ताह बीच चुका था। एकत्रित किया हुआ सारा अन्न दुर्वासा की सेवा में समाप्त हो गया। किन्तु क्षुधा की चिन्ता में न करके तपस्वी मुद्‌गल अपने नियमानुसार ईश्वर-आराधना में निमग्न हो गये।

कुछ दिन बीते। थोड़ा-सा अन्न जुटा। मुद्‌गल ने पुन: भोजन बनाया और उसे अपने इष्टदेव को अर्पित किया। ठीक तभी आश्रम के द्वार पर वही कर्कश ध्वनि हुई। मुद्‌गल द्वार पर आये। देखा, उन्मत्त दुर्वासा द्वार पर उपस्थित हैं।

दुर्वासा ने कर्णकटु शब्दों में कहा, "विप्र ! मैं भोजन की इच्छा से तुम्हारे आश्रम में आया हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन का प्रबन्ध करो।"

मुद्‌गल ने उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम कर कहा, भगवन्, भोजन तैयार है। आप कृपया मेरी कुटिया के भीतर पधारें।"

दुर्वासा ने सरोष कुटी में प्रवेश किया और भूमिपर बैठ गये। मुद्‌गल ने आदर पूर्वक उन्हें भोजन परोसा। फिर वही पुनरावृत्ति। जितना सम्भव हुआ उतना भोजन तो दुर्वासाजी ने खा लिया, शेष को अपने शरीर पर लेप करके नष्ट कर दिया और कर्कश शब्द बोलते हुये वहाँ से चल दिये।

पुन: अन्नाभाव ! क्षुधा की ज्वाला ! किन्तु तपस्वी ब्राह्मण की तपस्या और व्रत में व्यवधान न हुआ। उनके मन में भूख या अपमान के कारण कोई विकार नहीं आया, किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं उत्पन्न हुई। निर्विकार रूप से उनकी साधना का क्रम चलता रहा।

इस प्रकार लगातार छ: भोजन-पर्वों पर दुर्वासा मुद्‌गल

के आश्रम में आये, उनका भोजन खा लिया, बचा हुआ अन्न नष्ट कर दिया और उनका अपमान करते हुये चले गये। किन्तु परम सन्तोषी मुद्‌गल के मन में कभी कोई विकार नहीं आया। वे सदैव प्रसन्न, शान्त और नम्र रहे।

ऋषि दुर्वासा द्वारा ली गई परीक्षा में मुद्‌गल पूर्णत: उत्तीर्ण हो गये। उनका अनुपम धैर्य, निर्विकार बुद्धि और सन्तोषी वृत्ति देखकर दुर्वासा बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने मुद्‌गल को हृदय से लगा लिया और अनेक आशीर्वाद देते हुये कहा, "तपस्विन्! निस्सन्देह तुम तपस्वियों में श्रेष्ठ और वन्द्य हो। तुम इंद्रियजित हो चुके हो। भूख की ज्वाला और रसना का स्वाद बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वियों को भी विचलित कर देता है। किन्तु तुम्हारे मन में न तो क्षुधा की ज्वाला के कारण कोई विकार आया और न रसना का स्वाद ही तुम्हें अपने व्रत से विचलित कर सका। तुम सचमुच धन्य हो!"

महर्षि दुर्वासा इस प्रकार मुद्‌गल की प्रशंसा कर ही रहे थे कि उसी समय आकाश से एक सुन्दर आकर्षक विमान वहाँ उतरा। उस विमान की शोभा अद्‌भुत थी। उसकी आभा से निकटवर्ती क्षेत्र प्रकाशित हो उठा। विमान से एक देवदूत उतरा। उसने ऋषि-प्रवरों को प्रणाम किया। तत्पश्चात् उसने मुद्‌गल से निवेदन किया –

"महर्षि! आपके अद्वितीय त्याग, धैर्य एवं सन्तोष रूपी शुभ कर्मों के फलस्वरूप आपको यह विमान प्राप्त हुआ है। आप इसमें बैठकर स्वर्ग जा सकते हैं तथा वहाँ के नानाविध सुखों का भोग कर सकते हैं।"

देवदूत की बात सुनकर मुद्‌गल ने उससे कहा, "देवदूत! मैं स्वर्ग के निवासियों के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ। वहाँ के निवासियों में कौन-कौन से गुण हैं? वे कैसी तपस्या करते हैं? स्वर्ग में क्या-क्या सुख है, तथा साथ ही वहाँ जो दोष हैं, उनसे भी मुझे परिचित कराइये।"

देवदूत ने कहा, "महर्षे, जिसे स्वर्गलोक कहते हैं, वह यहाँ से बहुत दूर है। वहाँ जाने का मार्ग अत्यन्त रमणीय है। वहाँ लोग सदा विमानों में विचरण किया करते हैं। अपने मन को वश में रखकर तपस्या करने वाले व्यक्ति ही वहाँ प्रवेश पा सकते हैं। वहाँ देवता, विश्वदेव, गन्धर्व आदि के अलग-अलग लोक हैं। वे सभी अत्यन्त प्रकाशवान् हैं। इन लोकों में इच्छानुसार सभी भोगों की प्राप्ति हो जाती है।

"स्वर्ग में सुमेरु नाम का अत्यन्त सुन्दर पर्वत है। उसमें देवताओं तथा पुण्यात्माओं के अलग-अलग अनेक सुन्दर उद्यान हैं। वहाँ किसी को भूख-प्यास नहीं लगती। मन में कभी किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। वहाँ सर्दी-गर्मी का कष्ट भी नहीं होता और न ही वहाँ कोई भय है। वहाँ कोई भी वस्तु अशुभ अथवा घृण्य नहीं है। सभी ओर मनोरम दृश्य हैं। सुगन्धित वस्तुयें हैं। कानों को प्रिय लगने वाले मधुर शब्द सुनने को मिलते हैं। विप्रवर, स्वर्ग में न शोक होता है, न बुढ़ापा। वहाँ कोई थकता नहीं।

"तपस्वी! अपने सत्कर्मों के कारण ही मनुष्य को स्वर्ग को प्राप्ति होती है। मनुष्य वहाँ अपने किये हुये पुण्य कर्मों के कारण ही रह पाते हैं। स्वर्ग निवासियों के शरीर में तैजस् तत्त्व की प्रधानता होती है। वे शरीर पुण्यकर्मों से प्राप्त होते हैं। साधारण मनुष्यों की भाँति उनका जन्म नहीं होता। उन शरीरों में कभी पसीना नहीं आता। उसमें किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं होती। महामते! जिन्होंने अपने सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति की है वे लोग वहाँ बड़े आनन्द से रहते हैं। संक्षेप में यही स्वर्ग के सुख है। मनुष्य अपने मन में जिस-जिस सुख और भोग की कामना कर सकता है, वे सभी उसे स्वर्ग में प्राप्त होते हैं।"

मुद्‌गल ने पुन: प्रश्न किया, "देवदूत! यह तो स्वर्ग के वैभव और गुणों की चर्चा हुई। क्या उसमें कोई दोष भी है?"

देवदूत ने कहा, "विप्रवर! स्वर्ग का एक बड़ा दोष यह है कि अपने पुण्य-कर्मों का फल समाप्त होते ही वहाँ से मनुष्य का पतन हो जाता है। स्वर्गीय सुख-भोगों से सहसा पतन कितना दुखदायी होता है इसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।"

"स्वर्ग में व्यक्ति मनुष्य योनि में किये हुये कर्मों का ही फल प्राप्त करता है। इच्छा करने पर भी वहाँ अपने कर्म फल के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जा सकता। वहाँ कोई नया कर्म भी नहीं किया जा सकता। अपने पुण्य रूपी धन को गँवाकर ही स्वर्ग का सुख प्राप्त किया जा सकता है

"स्वर्ग में भी जो लोक नीचे के स्थानों पर हैं, उन्हें अपने से श्रेष्ठ स्थानों के लोगों के प्राप्य सुखों को देखकर बहुत असन्तोष और सन्ताप होता है, क्योंकि उन भोगों को वे प्राप्त नहीं कर सकते। स्वर्ग में उच्च या निम्न स्थान मानव योनि में किये हुए कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होता है।"

मुद्‌गल ने जिज्ञासा की, 'देवदूत! तुमने मुझे स्वर्ग के दोषों से भी परिचित करा दिया। किन्तु क्या ऐसा भी कोई लोक है जो इन दोषों से सर्वथा रहित हो?"

देवदूत ने कहा, "महामते! अवश्य ही इन सब सुख-भोग देने वाले लोकों के ऊपर एक लोक है, जो सभी प्रकार के गुण-दोषों से रहित है तथा जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर मनुष्य का पतन नहीं होता।"

मुद्‌गल ने कहा, "देवदूत! मुझे उस लोक का वर्णन कुछ और विस्तार से बताओ।"

देवदूत ने कहा, "भगवन्! वह लोक ब्रह्माजी के लोक

से भी ऊपर है। उसे विष्णु का परमधाम भी कहते हैं। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे मनीषीगण परब्रह्म भी कहते हैं।

"विप्रवर! जिसका मन किसी भी प्रकार के विषयों में आसक्त है, वह इस लोक को प्राप्त नहीं कर सकता। जो लोग अहंकार से रहित हैं, जिनका मन सुख-द:ख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका है, जो जितेन्द्रिय है तथा जो निरन्तर ध्यान-योग में तत्पर हैं वे ही इस लोक को प्राप्त कर सकते हैं।"

अन्त में देवदूत ने कहा, "धर्मात्मन्! आपने जो कुछ पूछा उसका मैंने यथासाध्य उत्तर दिया। अब आप अपने पुण्य-कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्गलोक को चलिये। आपके सत्कर्मों से आपको यह विमान प्राप्त हुआ है। आप इसका उपयोग कीजिये।"

देवदूत की बातों पर मुद्गल ने विवेकपूर्वक विचार किया। उन्होंने देवदूत से कहा, "देवदूत! तुमने कृपापूर्वक मुझे स्वर्ग के गुण-दोषों से परिचित कराया। मैंने यह समझ लिया है कि स्वर्ग से पतन होने के पश्चात मनुष्य को भयानक असंतोष और संताप होता है। वह अतृप्ति की ज्वाला में जलता रहता है। उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। तुम अब अपना विमान ले जाओ। मैं स्वर्ग नहीं जाना चाहता। मैं तो इसी कर्मभूमि में रहकर उन व्रतों का पालन करना चाहता हूँ, जिससे अन्त में मुझे उस ब्रह्मपद की प्राप्ति हो सके जिसे पाकर मनुष्य फिर संसार में नहीं लौटता। उसे फिर किसी भी प्रकार अतृप्ति का बोध नहीं होता। वह पूर्णकाम और परम सन्तुष्ट हो जाता है।"

मानव-मन की सर्वथा शान्त एवं पूर्ण इच्छारहित स्थिति ही वह विष्णुधाम है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य फिर क्षुद्र विषय-सुखों के पीछे नहीं दौड़ता। इस धाम में पहुँचने का मार्ग सन्तोष की वृत्ति से प्रारम्भ होता है। हमें जितना जो कुछ प्राप्त है, उससे सन्तुष्ट रहना और प्राप्त वस्तु के विनष्ट होने पर भी निर्विकार रहकर सबल, सक्रिय एवं प्रयत्नशील रहना, यही इस परमपद की प्राप्ति के प्राथमिक सोपान हैं। ❑❑❑

संयम की नौका

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

**संयम जहाँ, वहाँ पर खिलते
सुरभित सुमन सिद्धि के सारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !!**

**संयम के बल से नदियों की
बहती है कल-कल जलधारा,
संयम-बिना वही जलधारा
कर देती जब भंग किनारा,
तब अग-जग हो जाते जलमय,
जन फिरते हैं, मारे-मारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !!**

**संयम होता यदि न, सृष्टि तब
कैसे भला सहज चल पाती,
यह विराट् विभुलोक-कल्पना
संयम बिना स्वयं जल जाती,
संयम के ही बल से नियमित
गतिमय हैं नभ के ग्रह-तारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !!**

**संयम से ही मानवता का
सदा रहा है पावन नाता,
संयम शोभा-शक्ति अनूपम,
संयम है जीवन का त्राता,
संयम के बल से ही धरती
रहती सबको ऊपर धारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !!**

**ज्योति जगा संयम की जिसने
जीवन की आरती उतारी,
खिले शान्ति के सुमन वहाँ पर,
महक उठी कर्मों की क्यारी,
जो जग जीत हुए, वे भी जन
संयम-बिना स्वयं से हारे
संयम ही जीवन है प्यारे !!**

**संयम के रथ पर बैठा रवि
बरसाता है जग पर सोना,
संयम-रस को पीकर मानव
पा जाता है रूप सलोना,
संयम की नौका ही नर को
भव सागर से पार उतारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !**

छुआछूत का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम हेतु विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये जाते रहे तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

भारत में सबसे बड़ा सामाजिक अपराध यदि कोई है, तो वह है छुआछूत। यह कब से और कैसे शुरू हुई, यह पता लगाना कठिन है। पर लगता है कई शताब्दियों से छुआछूत की यह भावना हमारी समाज-देह में घुसी हुई है और हमें सतत खोखला बनाने की दिशा में कार्यशील है। हमारे यहाँ बड़े-बड़े चिन्तक और मनीषी हुए, जिन्होंने हमारी इस बुराई को दूर करने का आजीवन प्रयत्न किया, पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब भी यह बुराई दूर नहीं हुई। इसका कारण यह लगता है कि भले ही कतिपय उच्चाशय महात्माओं ने इस 'सामाजिक कोढ़' को नष्ट करने का बीड़ा उठाया, पर हम संगठित रूप से इसके उन्मूलन की दिशा में प्रवृत्त न हो सके। स्वामी विवेकानन्द ने इस छुआछूत को 'मानसिक रोग' की संज्ञा दी है। यह विडम्बना है कि एक ओर से तो हम ईश्वर के सर्वव्यापित्व के गीत गाते हैं – यह कहते हैं कि वह आत्मतत्त्व सबके भीतर विद्यमान है, और दूसरी ओर हम जन्म के आधार पर जाति-पाँति का भेद करते हुए, विशेषाधिकार की अपेक्षा रखते हैं। छुआछूत की भावना के पीछे विशेषाधिकार का भाव छिपा रहता है। अतएव विशेषाधिकार की भावना को समूल नष्ट करना होगा।

यह दलील दी जाती है कि छुआछूत और भेदभाव तो उन जातियों में भी विद्यमान है, जिनको भारत में निम्न माना जाता रहा है। इसका उत्तर यह है कि यह उन निम्न मानी जाने वाली जातियों को तथाकथित उच्च जातियों की देन है। ऊपर के लोग जैसा करते हैं, नीचे के लोग भी उसका अनुकरण करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

- अर्थात् "श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, अन्य जन भी वैसा ही करते हैं। वे जो प्रमाण कर जाते हैं, लोग भी उसी का अनुवर्तन करते हैं।" अत: यदि नीची मानी जानेवाली जातियों में परस्पर के लिए छुआछूत का भाव है, तो उसका दोष ऊँची मानी जाने वाली जातियों को ही है। छुआछूत का यह जहर तथाकथित उच्च वर्ण के लोगों के द्वारा ही समाज-देह में फैलाया गया है। कहावत है कि नाग के काटे का विष तभी दूर हो सकता है, जब वही नाग उस काटी हुई जगह में मुँह रखकर अपने दिये विष को चूस ले। अत: यह उच्च वर्ण का कर्त्तव्य है कि अपने छुआछूत के दिये हुए विष को वे स्वयं चूसें और समाज-देह को स्वस्थता प्रदान करें।

हमने अपने संविधान में छुआछूत को कानूनी अपराध माना है। पर मात्र कानून के बल पर किसी अपराध या अशुभ को दूर नहीं किया जा सकता। जब तक हमारा हृदय अपराध को अपराध मानने के लिए तैयार नहीं है, तब तक अपराध को नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि हम बुद्धिजीवी हैं, तो हमें स्वीकार करना होगा कि जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में अन्तर करना बुद्धि की तौहीनी है। यदि हम अध्यात्मवादी हैं, तो मनुष्य-मनुष्य में भेद करना अध्यात्म के ही सिद्धान्तों को झुठलाना है। यदि हम ईश्वर को मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि वह न्यायी है, तो मानव-मानव में जन्म के आधार पर भेद करना ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करेगा। वास्तव में मनुष्य जन्म के आधार पर बड़ा या छोटा नहीं होता, वह तो अपने स्वभाव, अपने गुणों और कर्मों के आधार पर ही उच्चता या लघुता प्राप्त करता है। यदि भेद का आधार जन्म को माना जाए, तो विशेषाधिकार का भाव पैदा होता है, जो हमारे पतन का कारण रहा है। भेद का आधार तो वस्तुत: हमारा गुण और कर्म है। इसे समझ लेने पर पुरुषार्थ की भावना विकसित होगी और विशेषाधिकार का भाव खण्डित होगा।

स्वामी विवेकानन्द छुआछूत को एक भयानक खाई के रूप में देखते हैं, जिसमें भारतीय समाज गिर पड़ा है। वे हमें बचाने के लिए हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं – "तुम अपना जीवन 'मत छुओवाद' के इस घोर अधर्म में मत खो बैठना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् 'सभी प्राणियों को स्वयं अपनी आत्मा के समान देखो' – क्या यह उपदेश केवल पुस्तकों के भीतर ही रह जायेगा? जो भूखे के मुँह में एक टुकड़ा रोटी नहीं दे सकते, वे मुक्ति कैसे देंगे? जो दूसरों के केवल श्वास से ही अपवित्र हो जाते हैं, वे दूसरों को पवित्र कैसे बनाएँगे? 'मत छुओवाद' एक प्रकार का मानसिक रोग है। सावधान ! विकास ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु; प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकीर्णता। अत: प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।" और यह प्रेम ही छुआछूत के सामाजिक कोढ़ से हमारी रक्षा कर सकता है।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द और विज्ञान

स्वामी सर्वहितानन्द

१८९३ के जुलाई महीने में जब स्वामी विवेकानन्द जी अमेरिका पहुँचे। वहाँ पहुँचने के बाद ही उन्हें ज्ञात हुआ कि सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन सितम्बर मास में होने वाला है। पर अमेरिका की खोज की ४०० वीं वर्षगांठ मनाने के लिये कोलम्बियन मेला आरम्भ हो चुका था। इस मेले का उद्देश्य था आदिकाल से लेकर तब तक मानव-जाति की सभ्यता एवं संस्कृति में जितना विकास हुआ है, उसे एक ही स्थान पर प्रदर्शनी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना।

जब सभ्यता के विकास की गाथा कही जा रही हो, तो विज्ञान तो आ ही जाता है। इस मेले में विज्ञान के आरम्भिक और तत्कालीन विचारों के बीच के विकास को बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया गया था। इसी क्रम में संस्कृति के विकास ने उस समय तक कैसा रूप ग्रहण किया है, विचारों के राज्य में मानव कहाँ तक पहुँचा है, इसी को प्रदर्शित करने की परिणति थी – 'विश्व-धर्म-सम्मेलन', जिसमें स्वामीजी को भाग लेना था। तब तक विज्ञान प्रदर्शनियाँ आरम्भ हो चुकी थीं और हजारों लोग उसे देखने के लिये आ रहे थे। यह अच्छा ही हुआ कि स्वामीजी को भी विज्ञान की प्रदर्शनी देखने का अवसर मिला। स्वामीजी प्रतिदिन विज्ञान के नये सिद्धान्तों तथा उस पर आधारित आविष्कारों से परिचित होते गये। उनके जैसे जिज्ञासु एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति अल्प काल में ही प्रदर्शित वस्तुओं तथा उनके सिद्धान्तों को समझ जाया करते थे और उन्हें देखकर चमत्कृत हो जाते थे। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द अपने अनुज श्री महेन्द्रनाथ दत्त को 'इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग' की शिक्षा दिलवाना चाहते थे। यह बात स्वामीजी के विज्ञान-प्रेम को प्रदर्शित करती है। एडीसन द्वारा आविष्कृत डायनामो से जगमगाता मेला-परिसर ही कदाचित् इस प्रकार के विचारों का प्रेरणा-स्रोत रहा हो।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों की बातें सुनकर स्वामीजी विशेष सन्तुष्ट हुये। उन्होंने पाया कि वेदान्त ने जिन सत्यों का प्रतिपादन किया है, विज्ञान भी क्रमशः उसी ओर बढ़ रहा है।

स्वामीजी ने १९ सितम्बर १८९३ को विश्व-धर्म-सम्मेलन के नवें दिन 'हिन्दू धर्म' पर जो निबन्ध पढ़ा, वह इस धर्म को समझने की संक्षिप्त तथा सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति है। उसमें प्रतिपादित स्वामीजी का हर वाक्य मननीय है। वे कहते हैं – "विज्ञान एकत्व की खोज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ज्योंही कोई विज्ञान-शास्त्र पूर्ण एकत्व तक पहुँच जाएगा, त्योंही उसका और आगे बढ़ना रुक जाएगा, तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकेगा। उदाहरणार्थ, रसायन-शास्त्र यदि उस एक मूल तत्त्व (द्रव्य) का पता लगा ले, जिससे कि अन्य द्रव्य बन सकें, तब वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। पदार्थ-विज्ञान (भौतिकी) जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगा, जिससे अन्य शक्तियाँ बाहर निकलती हैं, तो वह पूर्णता तक पहुँच जाएगा। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय अपनी पूर्णता में पहुँच जाएगा, जब वह उस मूल कारण को जान लेगा, जो इस मर्त्यलोक में एकमात्र अमृत-स्वरूप है, जो इस जगत् का एकमात्र अचल अटल आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है और अन्य सब आत्मायें उसकी प्रतिबिम्ब-स्वरूप हैं। इस प्रकार अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि में से होते हुये इस अद्वैतवाद की प्राप्ति होती है। धर्मशास्त्र इसके आगे नहीं जा सकता। यही सारे विज्ञानों का चरम लक्ष्य है। सभी शास्त्र अन्त में इसी सिद्धान्त पर पहुँचनेवाले हैं, आज विज्ञान इस दृश्यमान जगत् को 'सृष्टि' नाम देना नहीं चाहता, वह इसे विकास मात्र कहता है। और हिन्दू को इस बात की प्रसन्नता है कि जिस सिद्धान्त को वह इतने दिनों तक अपने अन्तःकरण में धारण किये हुये था, वही सिद्धान्त आज बड़ी प्रबल भाषा में, विज्ञान के अति आधुनिक प्रयोगों के द्वारा अधिक स्पष्ट करके सिखाया जा रहा है।"

स्वामीजी ने अपने इस वक्तव्य को जैसी विज्ञान-सम्मत भाषा में प्रस्तुत किया, वस्तुतः एक बड़ा वैज्ञानिक ही ऐसी भाषा बोल सकता है। रसायन शास्त्र एकत्व की खोज में आज तीन कणों तक ही पहुँच पाया है – (१) इलेक्ट्रान, (२) प्रोट्रान और (३) न्यूट्रान। अब तक वह एकत्व की खोज नहीं कर पाया है। इसी प्रकार ऊर्जा के रूपान्तरण और अलग-अलग रूप को तो वैज्ञानिक जानता है, जैसे – ऊष्मा ऊर्जा, विद्युत ऊर्जा, यांत्रिक ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जल ऊर्जा, चुम्बकीय ऊर्जा, ध्वनि ऊर्जा, सौर ऊर्जा और ऊर्जा के और भी न जाने कितने रूप तथा उपयोग हैं, लेकिन उसमे से कौन-सी ऐसी एक ऊर्जा है, जिससे ये सब पैदा हुए हैं, आज तक उस ऊर्जा के बारे में हम जान नहीं पाए हैं।

परन्तु इस अपूर्ण ज्ञान से भी जगत् में कितने ही अद्भुत कार्य हो रहे हैं। इसके द्वारा भौतिक घटनाओं की व्याख्या हो रही है। जिस विद्युत-शक्ति के बिना इस मानव सभ्यता की कल्पना ही नहीं की जा सकती, उसकी व्याख्या यही है कि विद्युत-धारा कहीं बाहर से नहीं आती, बल्कि हर परमाणु विद्युत-आवेशों का ही समूह है, अतः प्रत्येक परमाणु में जो इलेक्ट्रान रहता है, उसे यदि एक ही दिशा में चालित किया जाए, तो वही विद्युत-धारा होती है। इलेक्ट्रान के अपने कक्ष

में घूमने से चुम्बकत्व पैदा हो जाता है। परमाणु के नाभिक को तोड़ने से अपार ऊर्जा मिलती है और वैसे ही दो नाभिकों के संलयन से भी अपार ऊर्जा प्राप्त होती है। इस प्रकार इलेक्ट्रान, प्रोटान एवं न्यूट्रान के अध्ययन से सभी चीजों की व्याख्या मिल रही है। हम ज्यों-ज्यों एकत्व की ओर बढ़ेंगे, त्यों-त्यों हमें अन्य रहस्यों का पता चलता जायेगा।

प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य विज्ञान द्वारा इस एकत्व तक पहुँच सकता है? क्या मनुष्य उस एकत्व को प्राप्त कर सकता है, जो सभी विज्ञान का आधार और लक्ष्य है? – नहीं। – क्यों? इसलिये कि विज्ञान, हमेशा इन्द्रियों द्वारा देखकर, सुनकर, चखकर, छूकर, सूंघकर किसी घटना का अध्ययन करता है। अधिक-से-अधिक हम कहाँ तक जा सकते हैं? द्वैत तक। एक ज्ञाता और दूसरा ज्ञेय। वैज्ञानिक चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करे, वह अपने इन्द्रियगत ज्ञान से परे नहीं जा सकता। इसलिये स्वामीजी आज के विज्ञान की अपूर्णता को दर्शाते हुये कहते हैं – "जहाँ तुम्हारा विज्ञान समाप्त होता हैं, वहीं से अध्यात्म आरम्भ होता है।" विज्ञान के माध्यम से हम अधिकतम द्वैत तक पँहुच सकते हैं और विज्ञान के चरम एकत्व तक जाने के लिये हमें इन्द्रियों से परे जाना होगा, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं।

यही आधुनिक विज्ञान की अपूर्णता है। इसी को प्रदर्शित करते हुये स्वामीजी पूर्णता के लिये आह्वान करते हैं, वे बताते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश के सारे स्पन्दन को आँखें नहीं देख पाती हैं, यदि स्पन्दन बहुत तीव्र हो तो भी आँख उस प्रकाश को न देख पायेगी और यदि स्पन्दन अत्यन्त मृदु हो, तो भी इन्द्रियाँ उसे नहीं पकड़ पायेंगी। तो क्या जहाँ हमें दिखाई नहीं देता, वहाँ प्रकाश नहीं होता? होता हैं, परन्तु अत्यन्त मृदु रूप में या अत्यन्त तीव्र रूप में। उसी प्रकार इन्द्रियगत ज्ञान भी बहुत थोड़े से क्षेत्र का ही ज्ञान हमें देता है उससे ऊपर और उससे नीचे अनेक लोक हैं, जिसकी व्याख्या या अध्ययन इन्द्रियों के राज्य में नहीं हो सकता। यही विज्ञान की अपूर्णता है। वास्तव में विज्ञान की सम्पूर्णता तो तब है, जब हम सारी इन्द्रियगत और इन्द्रियातीत घटनाओं को पकड़ सकें। तभी हम द्वैत से ऊपर उठकर अद्वैत या सम्पूर्ण विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर पायेंगे। यही स्वामीजी हमें समझाना चाहते हैं। इस सम्पूर्ण विज्ञान या आध्यात्मिकता द्वारा ही हमारा सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट होगा और हम एकत्व के राज्य में विचरण कर सकेंगे। तब सारे संशय नष्ट हो जायेंगे और व्यक्ति के लिये सभी कुछ सम्भव हो जाएगा।

प्रश्न उठता है कि क्या इस एकत्व की अनुभूति सम्भव है? स्वामीजी के मतानुसार मनुष्य नामक जीव के लिये यह सम्भव है। वे अपने राजयोग ग्रन्थ में समझाते हुये कहते हैं – "हमारे प्राण का स्पन्दन एक प्रकार का है, अत: हम उसी प्रकार के स्पन्दनवाले लोगों को देख सकते हैं। पर मानव नामक जीव के शरीर में सुषुम्ना नाड़ियों में ऐसी सब व्यवस्था है, ऐसी नाड़ियों के गुच्छे हैं, जो अभी अक्रिय हैं। यदि वे सक्रिय हो जायें, तो मनुष्य अपने प्राणों के स्पन्दन से तीव्र और मृदु दोनों तरह के स्पन्दनों की अनुभूति कर सकेगा। तब वह महान् ज्ञान का अधिकारी होगा। उदाहरणार्थ यदि उसे किसी पेड़ के बारे में ज्ञान प्राप्त करना हो और वह अपने प्राणों के स्पन्दन को पेड़ के प्राणों के स्पन्दन से एक कर ले, तो उसे पेड़ का सारा ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। इसी प्रकार यदि वह अपने प्राणों के स्पन्दन को ब्रह्माण्ड के स्पन्दन के साथ एक कर सके, तो उसे पूरे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो सकता है, ग्रह-नक्षत्र सभी का ज्ञान हो जाता है और व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। मनुष्य के शरीर में ऐसे छ: नाड़ी केन्द्र हैं, जिनके जागरण से मनुष्य में ज्ञान की सम्पूर्णता प्रकट हो जाती है।" यहाँ स्वामीजी की भाषा आधुनिक वैज्ञानिकों की भाषा है।

प्रश्न है कि क्या इन शक्ति-केन्द्रों को जाग्रत किया जा सकता है? स्वामीजी कहते हैं – अवश्य किया जा सकता है, हर मनुष्य को इन शक्ति-केन्द्रों को जाग्रत करने का जन्म-सिद्ध अधिकार है। ऐसे केन्द्र ओज शक्ति के द्वारा जाग्रत होते हैं। यह ओज-शक्ति सुषुम्ना के द्वार से चढ़कर सभी शक्ति-केन्द्रों को खोल देती है और मनुष्य महाविज्ञानी बन जाता है। यह विज्ञान अथवा सत्य को जानने की पराकाष्ठा है। यह ओज-शक्ति कैसे पैदा होती है? संयम तथा ब्रह्मचर्य के पालन से। यही कारण है कि भारतवर्ष हमेशा से मर्यादा और संयम में रहने की शिक्षा देता है, ताकि मानव महान् ज्ञान का अधिकारी बन सके। ऐसे माता-पिता और सन्तानें धन्य हैं, जिन्होंने इसके महत्त्व को समझा है और अपने जीवन में स्थान दिया है। स्वामी विवेकानन्द इस प्रकार के ज्ञान के अधिकारी थे। उन्होंने इसकी उपलब्धि की थी। अत: वे महान् वैज्ञानिक या महाविज्ञानी कहलाने के अधिकारी हैं।

इस एकत्व के ज्ञान को हम विज्ञान की पराकाष्ठा कहेंगे और यही सभी समस्याओं का समाधान है। खासकर देश तथा दुनिया जिन समस्याओं से निजात पाना चाहती है, उन सबका समाधान हमें स्वामीजी की वाणी में प्राप्त होता है। यदि हम सोचें कि समाज या राष्ट्र को किस दिशा में उन्नत करें, तो उसका एक ही उपाय है और वह है हम एकत्व की ओर बढ़ें। महाविज्ञान की ओर बढ़ें। स्वामीजी कहते हैं – "सत्य, नवीन अथवा प्राचीन किसी भी समाज का सम्मान नहीं करता, बल्कि समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ता है, या फिर नष्ट हो जाना होता है।"

इसलिये समाज को सत्य पर प्रतिष्ठित होना चाहिये। वही समाज सर्वश्रेष्ठ होगा, जिसमें एकत्व की अनुभूति के लिये अवसर प्रदान किये जाते हैं और यही कारण है कि

अनेक विपरीत एवं विषम परिस्थितियों के बावजूद भारत का अस्तित्व लोप नहीं हो सका है। यदि हर मनुष्य इस एकत्व के भाव से अनुप्राणित हो महाविज्ञान की दिशा में चले तो सारे दुराचार समाप्त हो जायेंगे।

आज इस एकत्व के महाविज्ञान के अध्ययन की विशेष जरूरत है। भ्रष्टता किसे कहते हैं? जब व्यक्ति इस एकत्व की अनुभूति से भ्रष्ट होता है, तभी उसे भ्रष्टाचारी कहा जाता है। जब वह राष्ट्र के साथ एकत्व की अनुभूति न करके छोटे दायरे में केवल अपनी पत्नी-बच्चों के साथ ही एकत्व की अनुभूति करता है, तभी सारे भ्रष्टाचार का सृजन होता है। पूछा जा सकता है कि क्या अपने बन्धु-बान्धवों के साथ एकत्व का अनुभव करना बुरा है? उसके उत्तर में स्वामीजी कहते हैं कि यदि हम दो-चार लोगों से एकत्व की अनुभूति कर इतना आनन्द पाते हैं और यदि इस आनन्द को बढ़ाना है, तो हमें बहुतों से एकात्मता की अनुभूति करनी होगी और सबसे सुखी व्यक्ति वही होगा, जो पूरे ब्रह्माण्ड से एकात्मता का अनुभव करता है; वही अनन्त आनन्द का भागी होगा। अत: अपने दायरे को बढ़ाना होगा, संकीर्णता-स्वार्थपरता को त्यागकर बृहत् और विस्तार में जाना होगा, तभी भ्रष्टाचार का निवारण होगा। यही स्वामी विवेकानन्द की अनुभूति का सार है और उन्होंने इस भाव को 'सेवा' का नाम दिया। यदि हर कार्य सेवा के भाव से, सेव्य को शिव समझकर किया जाय, तो कार्य पूजा में परिवर्तित हो जाता है और मनुष्य योग की ओर बढ़ता है। योग का अर्थ हैं जोड़ना। सेवा के माध्यम से मन का मन से, हृदय का हृदय से योग होगा और हर कर्म कर्मयोग में परिणत होगा। तभी सुख और शान्ति भी आयेगी।

आतंकवाद की प्रवृत्ति को ही लीजिये। इसमें अपने धर्म के प्रति वफादार कुछ नौजवानों को यह सिखाकर भेजा जाता है कि 'काफिरों' को खत्म करना है; इससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार हर मनुष्य, जिसने विज्ञान के चरम एकत्व – अद्वैत की अनुभूति नहीं की है, वह काफिर है। जब तक आप इस एकत्व की अनुभूति आप नहीं कर लेते, तब तक धर्म पर अपनी राय देने का आपको कोई अधिकार नहीं है। दूसरी बात यह है यदि आपने एकत्व की अनुभूति कर ली है, तो क्या आप किसी की हत्या कर सकते हैं? या उसकी प्रेरणा दे सकते हैं? कदापि नहीं। क्या हम अपने ही हाथ-पैर काट सकते हैं? इस अद्वैत विज्ञान की अनुभूति के बाद हर जीव से प्रेम का ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि अपने प्राण देकर भी वह दूसरों के प्राण बचाना चाहता है, अत: ऐसे हत्यारे जो अनेकता तथा उससे उत्पन्न घृणा-भाव से प्रेरित होकर ऐसा करते हैं, उन्हें लोक-परलोक में कहीं भी शान्ति नहीं मिल सकती।

एक और विचारधारा है साम्यवाद। इससे प्रभावित हुये अनेक देशों की समझ में अब आ गया है कि शारीरिक और मानसिक रूप से साम्यवाद कभी सम्भव नहीं। अब वे भी अन्य देशों की राह चलने का प्रयास कर रहे हैं। स्वामीजी ने बहुत पहले ही कह दिया था – "यथार्थ साम्य-भाव न तो कभी संसार में हुआ है, न कभी होने की आशा है। यहाँ हम सब समान हो ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार के असम्भव साम्य भाव का फल तो मृत्यु ही होगा। वह क्या चीज है जो मनुष्य-मनुष्य में भेद पैदा करती है? – मस्तिष्क की भिन्नता। आजकल एक पागल के सिवा और कोई भी न कहेगा कि हम मस्तिष्क की समान शक्ति लेकर उत्पन्न हुये हैं।"

चूक हमसे वहीं हुई हम विज्ञान के चरम एकत्व या साम्य को प्राप्त करना चाहते तो हैं, पर उस साम्य को शरीर में खोजना चाहते हैं। हम देखते हैं कि ऐसे लोग यह अनुभव करते हैं कि शरीर को भूख लगती है, ठण्ड लगती है, बरसात और बर्फ से बचाव आवश्यक है। बस, यदि इन समस्याओं का समाधान हो जाय, तो सब समस्याएँ हल हो जायेंगी। इसलिये वे सोचते हैं कि सभी को बराबर रोटी, कपड़ा और मकान मिल जाय, तो सभी समस्याएँ हल हो जाएँगी। पर ऐसा नहीं हो पाता। विज्ञान के उस चरम एकत्व को जिसे समाधि अवस्था में प्राप्त किया जाता है, जाने बिना एकत्व की बात करना समस्याओं को जन्म देना है। दूसरा एकत्व श्मशान-भूमि का है, जहाँ शारीरिक एकत्व हम देख पाते हैं। सब निश्चल पड़े हैं। हमारे पास दो साम्य हैं – पहला श्मशान का साम्य और दूसरा है समाधि का साम्य। इन दो साम्यों के बीच कभी एकत्व का भाव सम्भव नहीं। भूख से व्याकुल और गरीबी से आक्रान्त व्यक्ति – रोटी, कपड़ा और मकान की साम्यता की बात से प्रभावित हो जाता है, पर शीघ्र ही इसकी अपूर्णता उसकी समझ में आती है और उसे आत्मा के एकत्व की ओर बढ़ने की इच्छा होती है। वह उस ओर बढ़ेगा ही, क्योंकि यही मानव मात्र का स्वभाव है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द सेवा के माध्यम से शारीरिक अपूर्णता को पूर्ण कर देना चाहते थे। यही कारण है कि नवयुवकों का आह्वान करते हुये वे कहते हैं कि यदि मेरे देश का एक कुत्ता भी भूखा है तो हमारा कर्तव्य है उसकी क्षुधा की पूर्ति करना।" पेट की ज्वाला शान्त होते ही मनुष्य अवश्य विज्ञान के चरम एकत्व – आत्म-तत्त्व की ओर जाएगा। तभी सभी समस्याओं का अन्त हो सकेगा।

हे भारत, तू धन्य है, जो तूने विज्ञान के चरम सत्य – एकत्व की अनुभूति की और अपने समाज को उसी अनुभूति की ओर जाने की प्रेरणा दी। तूने राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक एवं सूफी सन्तों को पैदा किया है, जिन्होंने विज्ञान के चरम लक्ष्य को अनुभव किया है। यह परम्परा तेरी मिट्टी में है। भविष्य में और भी ऐसे हजारों महापुरुष पैदा होंगे। ❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१४८. जानत तुम्हहि तुमहि हो जाही

रावण ने सीताजी का अपहरण करने के बाद उन्हें त्रिजटा की निगरानी में रखा। सीताजी श्रीराम के ध्यान-चिन्तन में लीन रहने लगी। इससे उन्हें सब तरफ राम-ही-राम दिखाई देने लगे। इस विचित्र स्थिति का ख्याल आने पर एक दिन उन्होंने त्रिजटा से कहा, "मैंने सुना है कि भ्रमरी द्वारा भ्रमर का सतत चिन्तन करने पर वह भ्रमर ही बन जाती है। मेरे द्वारा भी श्रीराम का सतत स्मरण करने से क्या मैं श्रीराम नहीं बन जाऊँगी ! उस स्थिति में श्रीराम का क्या होगा?'

त्रिजटा ने कहा – "आपका श्रीराम बन जाना तो आपके लिये गौरव की बात होगी। जीव और शिव का एक हो जाना चिन्ता की बात कैसे हो सकती है? इस स्थिति में जीव अपने जीवन को सार्थक समझता है। आप यह क्यों नहीं सोचती कि श्रीराम का भी आपके प्रति उतना ही प्रेम है और आपकी विरहाग्नि में वे भी झुलसते होंगे। क्या वे भी निरन्तर आपका मनन-चिन्तन करते रहने से सीता नहीं बन जायेंगे ! उस दशा में भी युगल भाव बना रहेगा।"

१४९. मूरख काको कहत हैं

एक बार राजा भोज बिना सूचना दिये रानी के कक्ष में जा पहुँचे। रानी तब एक मंत्री की पत्नी से बातें कर रही थी। राजा को सहसा आया देख उसके मुँह से 'मूर्ख' शब्द निकल पड़ा। राजा ने इसे अपना अपमान समझा, पर वहाँ मंत्री-पत्नी होने से वे चुपचाप बाहर आ गये। रास्ते में वे सोचने लगे कि रानी द्वारा उन्हें 'मूर्ख' कहने का कोई कारण होगा और इसका पता लगाना होगा। जब वे दरबार में सिंहासन पर बैठे और दरबारी एक-एक कर आने लगे। राजा भी 'मूर्ख' कहकर उनका अभिवादन स्वीकारने लगे। कालिदास के आने पर जब राजा के मुँह से 'मूर्ख' शब्द निकला, तो कालिदास को भी आश्चर्य हुआ और उन्होंने निम्न श्लोक कहा –

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे ।
गतन्न शोचामि कृतज्ञ मन्ये ।
द्वाभ्यां तृतीयो न कदापि गच्छेत ।
किं कारणं भोजः वदति मूर्खः ।।

– "खाते हुए चलना, हँसते हुए बातें करना, आत्म-प्रशंसा करना और दो लोगों के एकान्त में बातें करते समय बीच में जा पहुँचना – ये मूर्खता के लक्षण हैं। इनमें से मैंने ऐसी कौन-सी धृष्टता की कि राजा भोज ने मुझे मूर्ख कहा।"

अब राजा भोज की समझ में आ गया कि उनके किस आचरण पर रानी के मुख से 'मूर्ख' शब्द निकल पड़ा था।

१५०. प्राणदान की महिमा न्यारी

महाराज मेघवाहन जब विश्व-विजय पर निकले, तो रास्ते में उन्हें सुनाई दिया – "बचाओ, बचाओ, मेरी रक्षा करो।" पथ के निकट ही एक घनी झाड़ी थी और आवाज वहीं से आ रही थी। महाराजा म्यान से तलवार निकाल कर रथ से कूद पड़े और वहाँ जा पहुँचे। झाड़ी के पीछे उन्होंने देखा कि एक वनवासी पुरुष देवी की प्रतिमा के सामने एक व्यक्ति की बलि देने जा रहा है। राजा को देखकर वह व्यक्ति करुण स्वर में चिल्लाया, "महाराज, मेरे प्राणों की रक्षा करें।"

राजा ने उसे आश्वस्त किया – "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" फिर उन्होंने बलि देनेवाले से पूछा – "तुम इस बेकसूर की बलि क्यों दे रहे हो?" उसने उत्तर दिया – "मेरा पुत्र मरणासन्न हालत में है। मुझे एक तांत्रिक ने बलि देने को कहा है, इसीलिये मैं इसकी बलि देने जा रहा हूँ।"

राजा ने कहा, "प्राणि-हत्या महापाप है। अपने बच्चे के मोह में किसी निरीह व्यक्ति की हत्या करना क्या उचित है? मैं यह हत्या नहीं होने दूँगा।"

वह बोला – "महाराज, आप यह भूल रहे हैं। इसकी रक्षा करके आप मेरे पुत्र को मृत्यु के द्वार में ढकेल रहे हैं और उसकी हत्या के भागीदार बन रहे हैं।" राजा ने उत्तर दिया – "मैं एक राजा हूँ और इन दोनों की रक्षा करना मेरा कर्तव्य बनता है। तुम्हें बलि ही देनी है, तो मेरी बलि देकर देवी को प्रसन्न करो। इसमें तो तुम्हें कोई अपत्ति नहीं होनी चाहिये।" यह कहकर राजा ने अपना खड्ग फेंक दिया और स्वयं बलि-स्थल पर चले गये। उन्होंने बँधे हुए व्यक्ति के बन्धन खोल दिये और स्वयं मस्तक झुकाकर अपना वध कराने हेतु खड़े हो गये।

आवाज आयी – "राजन्, आप धन्य हैं। आपको इस बात का बोध है कि राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। इसी कारण आपको अपने स्वयं के प्राणों की बलि देने में भी बिलकुल हिचक नहीं हुई।"

सुनकर राजा ने जब अपना मस्तक उठाकर देखा, तो सामने साक्षात् वरुण देवता को खड़ा पाया। वरुणदेव बोले – "आपकी परीक्षा लेने के निमित्त ही मैंने यह नाटक रचा था। आप परीक्षा में सफल हुए।" ❑❑❑

नैनीताल में राजा का आतिथ्य (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

दूसरी घटना – बंगले की लान में सभा

श्रीमती लिजले रेमंड की निवेदिता-जीवनी से एक अन्य झाँकी प्रस्तुत है – उसी दिन संध्या के समय निवेदिता एक अन्य मर्मस्पर्शी घटना के दौरान उपस्थित थीं, जब स्वामीजी जनता के साथ गहन चर्चा में डूब गये थे। बँगले के उद्यान में, राजा की उपस्थिति में वे समवेत लोगों के साथ बातें कर रहे थे। अपनी विशेष भावुकतापूर्ण आवाज में हिन्दुओं तथा मुसलमानों – दोनों का आह्वान करते हुए स्वामीजी कह रहे थे – "कार्य का समय आ पहुँचा है। हमें अपनी शक्तियों को जोड़ना होगा। आज हम लोग जो शक्ति या स्वाधीनता से रहित, जीवन तथा इच्छाशक्ति से रहित गुलामों के एक झुण्ड मात्र हो रहे हैं, हमें अपनी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करनेवाले आलस्य को झाड़कर फेंक देना होगा।"

उस समय स्वामीजी चिन्तन तथा भावों की ऐसी ऊँचाइयों पर पहुँच गये थे कि उनके गालों से होकर अश्रु प्रवाहित होने लगे। भीड़ विस्मय में आकर उनकी ओर देख रही थी और स्वयं से पूछ रही थी – "ऐसी क्या बात है कि जो संन्यासी अपना सर्वस्व त्याग चुके हैं, वे एक शोकग्रस्त प्रेमी के समान भारत के लिए रुदन कर रहे हैं? क्या उनके हृदय में, उनकी अन्तरात्मा में भारतवर्ष ही विद्यमान है?"

उनके इस करुण आह्वान का अद्‌भुत प्रभाव हुआ। लोगों ने तत्काल उनकी बातें स्वीकार कर ली। एक युवक उद्दीप्त होकर चिल्ला उठा, "मैं बहुत-से रुपये एकत्र करूँगा और उसके द्वारा हमारे सर्वश्रेष्ठ लोगों को इंग्लैंड भेजने में सहायता की जायेगी। वहाँ वे अध्ययन करेंगे और अपनी प्रशासनिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद लौटकर भारत के अच्छे सेवक बन सकेंगे, जिनकी हम प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया – "भाई! ऐसा कुछ भी नहीं होगा। तुम यह निश्चित जान लो कि उनमें से अधिकांश, विचारों में अपनी परम्परा से विच्छिन्न तथा विदेशी भावापन्न होकर, एक मिश्रित जाति में परिणत हो जायेंगे। वे लोग केवल अपने लिए ही जीयेंगे और यूरोपियन वेशभूषा, आहार, आचार तथा बाकी सब कुछ की नकल करेंगे और अपने देश की भलाई की बात भूल जायेंगे। नहीं, हमें जरूरत है ऐसे सुदृढ़ लोगों की, जो मूलत: भारत की ही अन्तरात्मा में निहित तत्त्वों से निर्मित हों, और जो अपने आदर्शों को पूर्ण रूप से अपने जीवन में रूपायित कर सकें!"

इन शब्दों के घात-प्रतिघात से निवेदिता विस्मित हो गयीं। वे स्वयं से पूछने लगीं – "तो फिर भारतवर्ष है क्या? स्वामीजी इसके विषय में वैसे ही बोल रहे हैं, उसी भाव के साथ, उसी विश्वास के साथ बोल रहे हैं, जैसा कि फादर हैमिल्टन ने आयरलैंड के विषय में कहा था। तो क्या भारत एक 'राष्ट्र' के रूप में स्थापित हो सकता है? आध्यात्मिक दृष्टि से तो 'हाँ', पर जागतिक दृष्टि से क्या यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक हिस्सा नहीं है? कुछ ऐसी चीजें भी हैं, जिन्हें मैं अभी समझ नहीं पाती!"

महाराजा भी मंच पर स्वामीजी की बगल में बैठे हुए थे। निवेदिता ने उनकी ओर देखकर उनकी मुखमुद्रा से इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहा। परन्तु उनके चेहरे से उनके मन की बातें जानना असम्भव था। महाराजा की आँखों से विनम्रता, पर साथ ही सुदृढ़ इच्छा-शक्ति भी व्यक्त हो रही थी और वे एक शिष्य की अपने गुरु के प्रति निष्ठा का भाव लिए उनके प्रत्येक हाव-भाव का अवलोकन कर रहे थे। स्वामीजी के शब्द और निवेदिता का अपना प्रश्न उनके अचेतन मन की गहराइयों में डूब गये।[१]

उपरोक्त सभा में जिस युवक का उल्लेख आया है, वे थे योगेशचन्द्र दत्त और ये उनके मेट्रोपॉलिटन विद्यालय में स्वामीजी के सहपाठी रह चुके थे। युगनायक विवेकानन्द ग्रन्थ में लिखा है – "उस दिन वार्तालाप के दौरान देशवासियों के मन में देश की भौतिक उन्नति तथा उद्योग के विकास के सम्बन्ध में उत्साह एवं उद्यम के अभाव पर चर्चा करते हुए स्वामीजी इतने अभिभूत हो गए कि उनकी आँखें छलछला

१. The Dedicated, Lizelle Reymond, 1985, p. 104-05

आयी थीं। उनके वे भीगे नेत्र देखकर सबका हृदय अवसादपूर्ण हो उठा था। उस चर्चा के समय योगेश बाबू के मित्र श्रीयुत ब्रह्मानन्द सिंह भी वहाँ उपस्थित थे। ये उन दिनों रामपुर स्टेट कॉलेज के प्रधानाचार्य थे। बाद में वे लखनऊ कागज मिल के संचालकों में एक हुए थे। यह दृश्य देखकर योगेश बाबू तथा उनके मित्र के मन में जिस भाव का उदय हुआ था, इस विषय में योगेश बाबू ने लिखा है – "वह दृश्य मैं जीवन भर नहीं भूल सकूँगा। वे संसार-त्यागी संन्यासी थे, परन्तु भारतवर्ष की बात उनके हृदय की हर परत में जाग्रत थी। भारत ही उनका प्राण था, भारत ही उनका ध्यान था, भारत के बारे में ही वे सोचते, भारत के लिए ही वे रोते और भारत के लिए ही वे अपना जीवन उत्सर्ग कर गए हैं। उनके नेत्रों के प्रत्येक स्पन्दन में, उनकी धमनियों के प्रत्येक रक्तबिन्दु में भारत के चिन्तन के अतिरिक्त और कोई भी विचार न था।"

नैनीताल में उनसे मिलने के लिए आगत लोगों को पाश्चात्य देशों के निम्नस्तरीय समाज में फैली धर्म-विषयक अज्ञता को समझाने के लिए स्वामीजी ने एक कहानी सुनायी थी, जो इस प्रकार है – "एक बार एक बिशप एक कोयले की खदान में गए थे। वहाँ पर उन्होंने मजदूरों के बीच व्याख्यान देते हुए उन्हें बाइबिल के महान् सत्यों को समझाने का प्रयास किया और अन्त में पूछा, 'तुम लोग ईसा को तो जानते हो न?' मजदूरों में से एक ने उत्तर में प्रतिप्रश्न किया, 'जी, उसका नम्बर क्या है?' कैसी विडम्बना है! उसका विश्वास था कि बिशप के नम्बर बता देने पर वह उन्हें मजदूरों में से ढूँढ़कर निकाल सकेगा।" हमारे देश में कहते हैं, 'सारा रामायण हो गया और पूछते हो कि सीता कौन थीं!' स्वामीजी ने और भी कहा, "पाश्चात्य देशों के लोग एशियावासियों के समान धर्मप्राण नहीं हैं। वहाँ आम जनता में तो धर्म का कोई विचार ही नहीं उठता। किसी भी भारतीय के लन्दन या न्यूयार्क जाने पर, वहाँ व्याप्त अनीतिपरायणता उसकी दृष्टि में आएगी, जो उसके कल्पित नरक से भी बढ़कर वीभत्स है। एशिया का कोई व्यक्ति चाहे जितना भी अध:पतित क्यों न हो, लन्दन के हाइड पार्क में दिन-दहाड़े जो कारनामे होते हैं, उन्हें देखकर उसके मन में भी घृणा उत्पन्न होगी।" वे कहा करते थे, "पाश्चात्य जगत् के निम्न श्रेणी के लोग न केवल अपने धर्म के विषय में अज्ञ हैं, बल्कि बड़े गँवार तथा असभ्य भी हैं। एक दिन मैं अपनी प्राच्य पोशाक पहने लन्दन के एक रास्ते से होकर जा रहा था, उसी समय एक कोयला ढोनेवाली गाड़ी का गाड़ीवान सम्भवत: मेरी पोशाक की विचित्रता देखकर चंचल हो उठा और उसने कोयले का एक टुकड़ा उठाकर मेरी तरफ फेंक दिया। सौभाग्यवश वह मुझे लगे बिना मेरे कान के पास से होकर निकल गया।"[३]

भगिनी निवेदिता बताती हैं – "यहीं पर हमें उनसे **राजा राममोहन राय** के विषय में बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं, जिनमें इन तीन तत्त्वों को उन्होंने इन आचार्य की शिक्षा के मूल सूत्र बताये – (१) उनका वेदान्त-ग्रहण, (२) स्वदेश-प्रेम का प्रचार और (३) हिन्दू-मुसलमानों के साथ समभाव से प्रीति। उन्होंने बताया कि इन विषयों में राजा राममोहन राय की उदारता तथा दूरदर्शिता ने जो कार्यप्रणाली सुनिश्चित की थी, वे स्वयं उसी के आधार पर चल रहे हैं।"[४]

——*—*—*—*—*—*—*—*—*

नैनीताल में स्वामीजी के पास आनेजाने वाले जिन मुसलमान सज्जन का भगिनी निवेदिता ने उल्लेख किया है, वे मुहम्मद सरफराज हुसैन थे। बाद में उन्होंने अपना 'मोहम्मदानन्द' के नाम से स्वयं को स्वामीजी का एक शिष्य घोषित कर दिया था और 'प्रबुद्ध भारत' में कुछ लेख भी लिखे थे।[५] नैनीताल में उस समय हिन्दू-मुस्लिम एकता पर स्वामीजी की जो चर्चा चल रही थी, उसी का धारावाहिक रूप हमें कुछ दिनों बाद अल्मोड़ा से १० जून १८९८ ई. को नैनीताल के सरफराज हुसैन के नाम लिखे स्वामीजी के पत्र में मिलता है –

प्रिय मित्र,

आपका पत्र पढ़कर मैं अत्यन्त मुग्ध हुआ और यह जानकर मैं अतीव आनन्दित हूँ कि ईश्वर चुपचाप हमारी मातृभूमि के लिए अभूतपूर्व चीजों की तैयारी कर रहे हैं।

चाहे हम उसे वेदान्त कहें या कोई अन्य नाम दें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के सभ्य मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने ही सर्वप्रथम इसकी खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरब और हिब्रू – दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद – जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप मानता है, तथा उसी के अनुरूप आचरण करता है – का विकास हिन्दुओं में

२. युगनायक विवेकानन्द, स्वामीज गम्भीरानन्द, नागपुर, तृतीय खण्ड, सं. २००५, पृ, ९३-९५

३. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, (उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता), भाग २, सं १९९५, पृ. २१७-१८

४. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, सं. २००१, पृ. १९-२०

५. ये लेख अंग्रेजी 'प्रबुद्ध भारत' मासिक के १८९८ ई. के सितम्बर तथा दिसम्बर और १८९९ ई. के मई – इन तीन अंकों में 'Islam : as a mighty Testimony to Vedantism' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुए थे। फिर दिसम्बर १९८६ के अंक में इसका पुनर्मुद्रण भी हुआ है। डॉ. रघुराज गुप्त द्वारा किया हुआ इसका हिन्दी अनुवाद भी 'विवेक-ज्योति' के १९९७ ई. के जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ।

सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी बाकी है।

दूसरी ओर, हमारा अनुभव यह है कि इस समता के भाव को यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत् के दैनन्दिन कार्यों में यथेष्ट मात्रा में ला सके हैं, तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी ही हैं – यद्यपि वे लोग उस सिद्धान्त के गहन अर्थ से अनभिज्ञ हैं, जिसके ऊपर उनका वह आचरण अवलम्बित है और जिसे सामान्य हिन्दू भी स्पष्ट रूप से समझते हैं।

इसलिए हमारा दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त चाहे कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों, व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, मनुष्य-जाति के विराट् जनसमूह के लिए उनका कोई मूल्य नहीं। हम मनुष्य-जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है, न बाइबिल, न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य-जाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उसी धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

हमारी मातृभूमि के लिए – हिन्दुत्व और इस्लाम – इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य – वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर – यही एक आशा है। मैं अपने मनश्चक्षुओं से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष के उपरान्त तेजस्वी और अजेय रूप में वैदान्तिक बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।

प्रभु से सर्वदा मेरी यही प्रार्थना है कि वे आपको मानव-मात्र की सहायता के लिए, विशेषकर हमारी अत्यन्त निर्धन मातृभूमि के लिए एक महान् यंत्र बनायें। इति।

स्नेहसहित आपका,

विवेकानन्द[६]

मिस मैक्लाउड ने अपने संस्मरणों में लिखा है – "तीन दिनों के लिए उन्होंने (स्वामीजी) हमें एकाकी छोड़ दिया। उस दौरान हम उन्हें बिल्कुल भी नहीं देख सकीं। हम एक होटल में निवास कर रही थीं। आखिरकार उन्होंने हमें बुला भेजा। हम उन छोटे-छोटे घरों में से एक में प्रविष्ट हुईं और वहाँ मैंने उन्हें मुस्कुराते हुए अपने बिस्तर पर बैठे देखा। वे हमें देखकर बहुत ही प्रसन्न थे। हमने उन्हें पूरी स्वाधीनता दी थी। हमने कभी उनसे कोई विशेष आग्रह नहीं किया। उन्होंने भी कभी हमें बोझ नहीं समझा। कभी आदर-सत्कार-भावना की जरूरत का भी बोध नहीं हुआ।"[७]

श्रीमती सारा बुल अपने पूर्वोद्धृत १६ मई (१८९८) के पत्र में आगे लिखती हैं – "हम लोग हर रोज टहलने को जाते थे। पिछली शाम हम लोग टहलते हुए एक चर्च के पास जा पहुँचीं और वहाँ शाम की प्रार्थना में भाग लिया। यहाँ की कुछ विशेषताएँ मुझे बर्जन (नार्वे) की याद दिलाती हैं – तालाब और प्रार्थना-गृह से दिखनेवाला जल; इसकी स्वच्छता तथा धवलता – काफी कुछ वहाँ की सँकरे समुद्र-तट की याद दिलाती हैं; दीवारों से लगी वृक्षों की कतारें, फूलोंवाले पौधे तथा लताएँ और कुछ बँगले भी – बर्जन के पास के कुछ विशेष स्थानों जैसे प्रतीत हो रहे थे।

"हम लोग (ओली बुल, मैक्लाउड, निवेदिता तथा श्रीमती पैटर्सन) आज डण्डियों में अल्मोड़ा के लिये रवाना होनेवाले हैं। हमारी कुर्सियों तथा सामान को ढोने के लिये २५ कुलियों की जरूरत होगी।... (बाकी लोग घोड़ों पर गये थे।) कुल दूरी ३२ मील है, जिसका आधा रास्ता हम आज तय करेंगे। रात को हम लोग यात्रियों के बँगले में ठहरेंगे और बाकी दूरी पूरी करके हम लोग सीधे श्रीमती सेवियर के पास जायेंगे, जिन्होंने हम चारों को अतिथि के रूप में निमंत्रित किया है। वह इससे थोड़ा गर्म स्थान है और हम लोग उसे पसन्द करेंगे, क्योंकि नैनीताल सचमुच ही ठण्डी जगह है और हमें अपने सारे गरम कपड़ों का उपयोग करना पड़ा है। हमें यहाँ कुछ बड़े ही रोचक लोगों से मिलने का अवसर मिला है, जिनमें से एक हैं स्वामीजी के राजा-मित्र। उनसे काश्मीर में हमारी फिर भेंट होगी। अल्मोड़ा में हमारे निवास की अवधि अनिश्चित है – हम वहाँ एक पखवारे से लेकर एक माह तक रह सकते हैं।"[८]

नैनीताल से विदाई

सोमवार, १६ मई के दिन स्वामीजी तथा उनकी टोली अल्मोड़ा के लिये प्रस्थान करनेवाली थी। इसी दौरान स्वामीजी के एक अन्य गुरुभाई बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) भी नैनीताल आ पहुँचे थे। वे भी इस टोली के साथ ही लौटे। स्वामीजी ने अपने २० मई के पत्र में इसका उल्लेख किया है। रेमण्ड ने लिखा है – "नैनीताल के अन्तिम कुछ घण्टे उस कारवाँ की व्यवस्था में ही बीत गये, जो इन यात्रियों को पहाड़ों से होकर अल्मोड़ा ले जाने वाला था। महाराजा ने युवा तथा बलवान कुलियों और सर्वश्रेष्ठ टट्टुओं को एकत्र किया और शीघ्र ही सब कुछ तैयार होकर विदाई के संकेत की प्रतीक्षा करने लगा।"[९] अपराह्न के समय कारवाँ चल पड़ा – स्वामीजी डण्डी में और अन्य लोगों ने डण्डी अथवा घोड़ों पर सवार होकर नैनीताल से विदा ली।

६. विवेकानन्द साहित्य खण्ड ६, पृ. ४०५-०६; विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, प्र.सं., पृ. २७६

७. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1994, P. 235

८. Saint Sara, Pravrajika Prabuddhaprana, Calcutta, p. 280

९. The Dedicated, Lizelle Reymond, 1985, p. 105

काश्मीर-यात्रा तथा राजा से पत्र-व्यवहार

अल्मोड़ा से स्वामीजी की अपने पाश्चात्य शिष्यों के साथ काश्मीर जाने की योजना थी। सारा बुल के पत्र से ज्ञात होता है कि राजा साहब का भी स्वामीजी के साथ काश्मीर जाने का विचार था, फिर ऐसा ही संकेत उनके नैनीताल से दिनांक १८ मई १८९८ को जगमोहन लाल को लिखित एक अप्रकाशित पत्र से भी मिलता है, परन्तु सम्भवत: किसी आवश्यक कार्य में व्यस्तता के कारण वे स्वामीजी की टोली के साथ काश्मीर तथा अमरनाथ-यात्रा पर नहीं जा सके थे।

स्वामीजी की टोली के अल्मोड़ा पहुँच जाने के बाद भी राजा साहब उनके साथ सम्पर्क बनाये हुए थे। उनके पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने **९ जून** को अल्मोड़ा से उन्हें लिखा –

''महाराज, यह जानकर कि आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं, बहुत दु:ख हुआ। आप बहुत शीघ्र ही ठीक हो जायेंगे।

मैं अगले शनिवार काश्मीर के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। मेरे पास आपके रेसिडेंट के नाम परिचय-पत्र है। लेकिन, अच्छा हो कि आप कृपया उन्हें एक पत्र लिख कर सूचित कर दें कि आपने मुझे परिचय-पत्र दिया है।

कृपया जगमोहन से कहें कि वह **किशनगढ़ के दीवान साहब** को उनके वचन की याद दिला दे। उन्होंने वादा किया था कि वे 'व्यास-सूत्र' का निम्बार्क भाष्य तथा अन्य भाष्य अपने पण्डितों के द्वारा भेजेंगे।

प्रेम और मंगल-कामनाओं के साथ,

आपका, विवेकानन्द

पुनश्च – बेचारे गुडविन का देहान्त हो गया। जगमोहन उसे अच्छी तरह जानता है। यदि मिल सके तो मुझे **दो व्याघ्र-चर्म चाहिए – मठ के यूरोपियन बन्धुओं के लिए।** पश्चिमवासियों के निमित्त यह सबसे उपयुक्त उपहार है।

वि. [१०]

१० जून (१८९८) तक वे लोग अल्मोड़े में रहे। अगले दिन वहाँ से काश्मीर की यात्रा शुरू हुई। पहले काठगोदाम और फिर वहाँ से ट्रेन में लुधियाना, लाहौर होते हुए १४ को वे लोग रावलपिण्डी पहुँचे। अगले दिन १५ जून को स्वामीजी अपनी टोली के साथ काश्मीर पहुँच चुके थे। उसके बाद से अक्तूबर के मध्य तक – लगभग चार माह उन्होंने वहीं निवास किया।[११]

इस काश्मीर-यात्रा के दौरान भी एक दिन राजपुताना का प्रसंग उठा। भगिनी निवेदिता ने लिखा है – ''१६ अगस्त (१८९८), मंगलवार को स्वामीजी पुन: नदी तट पर स्थित अपनी पाश्चात्य शिष्याओं की उक्त छावनी में मध्याह्न के भोजन में सम्मिलित हुए। आहार के पश्चात् अपराह्न में इतने जोरों की बारिश हुई कि वे लौट नहीं सके। अतएव विविध विषयों पर चर्चा होती रही। मेज पर 'टॉड' की लिखी हुई 'राजस्थान' नामक एक पुस्तक पड़ी हुई थी। उसे उठाकर उन्होंने मीराबाई सम्बन्धी बातें पढ़ीं। मीराबाई को स्वामीजी अतीव श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे मीराबाई के भजनों का अनुवाद कर शिष्याओं को सुनाते और श्रीरामकृष्ण का यह प्रिय भजन गाते –

हरि से लागि रहो रे भाई।
तेरि बनत बनत बनि जाई।।
अंखा तारे बंका तारे तारे सुजन कसाई।
सुआ पढ़ावत गणिका तारे तारे मीराबाई।।
दौलत दुनिया माल खजाना बलिया बैल चराई।
एक बात का टण्टा पड़े तो खोज-खबर ना पाई।।
ऐसी भक्ति करो घट भीतर छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बन्दी और अधीनता सहज मिले रघुराई।।

''स्वामीजी के मतानुसार बंगाल की तत्कालीन राष्ट्रीय भावधारा का दो-तिहाई अंश टॉड के इस 'राजस्थान' ग्रन्थ पर ही आधारित था और उस ग्रन्थ का श्रेष्ठतम भाग था मीराबाई का चरित। मीराबाई द्वारा प्रचारित दैन्य, प्रार्थना तथा सर्वजीव-सेवा भाव चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित 'नाम में रुचि, जीवों पर दया तथा वैष्णवजन की सेवा' के समतुल्य है। वृन्दावन के एक वैष्णव सन्त (रूप गोस्वामी) यह कहकर मीराबाई से मिलने को राजी नहीं हुए कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते। तथापि मीरा उनके सम्मुख उपस्थित हुईं और बोलीं, ''वृन्दावन में और भी कोई पुरुष है, यह मैं नहीं जानती थी; मेरी तो धारणा थी कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही यहाँ पुरुष रूप में विराजमान हैं।'' यह कहकर उन्होंने अपना परदा हटा दिया और वैष्णव साधु ने उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। मीरा ने भी माता के समान उन्हें आशीर्वाद दिया।

''इसके पश्चात् स्वामीजी ने महाराणा प्रताप तथा अकबर आदि का प्रसंग उठाया; अकबर के दरबारी कवि तानसेन की बातें सुनाई और वीरबाला कृष्ण कुमारी के वृत्तान्त का भी आद्योपान्त वर्णन किया।''[१२]

❖ (क्रमश:) ❖

१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ४०४ (टिप्पणी – एक पूर्वोद्धृत पत्र में राजासाहब ने २५ मार्च १८९८ को ही जगमोहन को लिखा है कि – 'व्याघ्र-चर्म शीघ्र ही भेज दिया जायेगा।' इससे लगता है कि स्वामीजी मौखिक रूप से पहले ही जगमोहन को बोल चुके थे, परन्तु लगता है तब तक वह भेजा नहीं जा सका था।)

११. Life of Swami Vivekananda, Mayavati, 1993, p. II 355-7

१२. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, कोलकाता, २००१, पृ. ..

माँ की बातें

महेन्द्रनाथ गुप्त 'म'

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(गतांक से आगे)

कलकत्ते में माँ किराये के मकान में रहती थीं। जितने भक्त थे सब 'बमभोला' थे – उनके पास पैसे नहीं थे। ठाकुर के देहत्याग के बाद माँ वृन्दावन चली गयीं। एक वर्ष वे वृन्दावन में रहीं। लौटकर गाँव जाने के लिये बलराम बाबू के मकान में ठहरीं। कुछ दिनों बाद पैदल ही रवाना हुईं। इतना पैसा नहीं था कि गाड़ी या पालकी करके जा सकें। वर्धमान में एक जगह खूब थककर एक तालाब के किनारे बैठ गयीं। एक भक्त पंखे से हवा कर रही थे। उसके बाद लौटती हुई एक बैलगाड़ी को सवा या डेढ़ रुपये देकर जाना हुआ।[६]

किसी-किसी बड़े सौभाग्यवान भक्त ने माँ की समाधि देखी है। स्थिर, नेत्रों की पलकें ठहरी हुईं। खूब लज्जा थी न ! इसीलिये जो लोग उनके पास रहते, वे उनके प्रिय भक्तों को बुला लेते। अहा, वह दृश्य क्या ही दुर्लभ था !

– ३ –

गाँव में एक भक्त माँ के पास आता था। मुसलमान – अमजद उसका नाम था। माँ का काम – मकान की मरम्मत आदि करता। माँ मिट्टी के घर में रहती थीं। अमजद वह सब काम जानता था। माँ को भूमिष्ठ होकर प्रणाम करता। अन्य मुसलमान हिन्दुओं के घर नहीं खाते, लेकिन अमजद माँ के घर आकर ठाकुर का प्रसाद खाता। भक्त लोग जिस थाली-गिलास में खाते-पीते, माँ उसी में अमजद को भी खाना देतीं। खा लेने पर कहतीं, "उठ जाओ बेटा, उठ जाओ।" वह हाथ-मुँह धोकर उठ जाता। माँ तत्काल उसकी जूठी थाली-गिलास को स्वयं ही धो-माँजकर रख देतीं। फिर उन्हीं कपड़ों में पूजाघर में जातीं – स्नान आदि कुछ नहीं। माँ का कैसा आचरण ! किसके पास ऐसी दृष्टि है? अमजद पहले डकैत था। अत: सभी लोग उससे घृणा करते थे। लेकिन माँ ने देखा था कि भीतर 'सार' है। माँ कहती, "अनेक स्थानों पर मेरी अनेक सन्ताने हैं – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई। मुझे सभी को देखना होगा। खिलाना होगा। स्नेह देना होगा। मेरे बच्चे जो हैं।" अहा! कैसी उदार दृष्टि है ! देहात की रहनेवाली। फिर कट्टर ब्राह्मण की कन्या। पढ़ाई-लिखाई कुछ नहीं। लेकिन कैसा विशाल हृदय, कैसी विश्व-बन्धुत्व की दृष्टि ! भगवान को छोड़, मनुष्यों में ये सब गुण नहीं होते। जगदम्बा हैं, इसीलिये सबकी माँ हैं।

अमजद का देहान्त हो गया है। थोड़ा-सा कर्मभोग बाकी था; माँ का दर्शन पाकर मुक्त हो गया।

ठाकुर को लोग कितनी ही बातें कहते। एक बार एक व्यक्ति ने माँ को प्रणाम करके कुछ रुपये दिये। त्रैलोक्य आदि मन्दिर के अधिकारियों ने कहा, "छोटे भट्टाचार्य महाशय ने रुपये आदि कमाने के लिये अपनी पत्नी को लाकर रखा है।" श्रीरामकृष्ण माँ काली के सामने यह कहकर रोते, "माँ, वे लोग ऐसी बातें कहते हैं।"

माँ ने एक साधु को कहा था, "अन्तिम समय ठाकुर आकर तुम्हें ले जायेंगे – घर का लड़का घर जायेगा। लेकिन यदि जीवित अवस्था में शान्ति पाना चाहते हो, तो निरन्तर तपस्या करो, उनका चिन्तन करो।" कारण यह कि तपस्या करने से उनकी कृपा होती है। वैसे उनकी कृपा किसी नियम या शर्त के आधीन नहीं है।

(दक्षिणेश्वर में ठाकुर के कमरे का दर्शन करते समय) बड़ी खाट पर ठाकुर माँ के साथ सुदीर्घ आठ महीने तक शयन करके एक कठिन साधना में उत्तीर्ण हुए थे। 'रमणी के साथ रहे, किन्तु न करे रमण।' अवतार आदि के दैव चरित्र का यह एक निदर्शन और परीक्षा है। लोकशिक्षा के लिये ठाकुर इस परीक्षा में भी अनायास उत्तीर्ण हुए थे। तभी तो माँ के इस प्रश्न "मैं तुम्हारी कौन हूँ?" – का ठाकुर गर्वपूर्वक उत्तर देने में समर्थ हुए, "जो माँ मन्दिर में है, जिस माँ के

६. यह घटना १८८७ के सितम्बर की है, जब माँ स्वामी योगानन्द, गोलाप माँ आदि के साथ कलकत्ता से कामारपुकुर लौट रही थीं। उस बार धन के अभाव में माँ वर्धमान तक ट्रेन से गयीं। वहाँ से उचालन तक आठ कोस पैदल गयीं। इस परिश्रम के कारण माँ बहुत थक गयी थीं। श्रीम के विवरण के अनुसार सम्भवत: उचालन से कामारपुकुर तक बैलगाड़ी की व्यवस्था हुई थी। प्रसंगत: माँ वृन्दावन आदि तीर्थ-दर्शन करके एक पखवारे पूर्व ३१ अगस्त को कलकत्ते लौटी थीं।

गर्भ से इस शरीर का जन्म हुआ है, वही माँ इस समय मेरे पाँव दबा रही हैं।''... श्रीरामकृष्ण ने विवाह-लीला, पत्नी के साथ शयन-लीला – यह सब कुछ लोक-समाज के ऊर्ध्व गति के लिये किया। समाज की दृष्टि देह से ऊपर उठाकर भगवान से जोड़ने के लिये।

(स्वामी अरूपानन्द 'माँ की बातें' ग्रन्थ की पाण्डुलिपि श्रीम को पढ़कर सुनाने के बाद श्रीम के आदेश पर उपस्थित भक्त माँ की उक्तियों पर चर्चा करने लगे। श्रीम ने स्वयं भी माँ के कई उपदेशों की आवृत्ति की। स्कूल और कॉलेज में अध्यापन के समय वे आवृत्ति की इस शैली का उपयोग करते थे। यह पुनरावृत्ति की शैली ही श्रीम के आदर्श शिक्षक होने का भी एक कारण है। उन्होंने इसे अपने गुरुदेव परमहंस से सीखा था। परमहंसदेव प्राय: ही 'मास्टर' के द्वारा अपने उपदेशों की पुनरावृत्ति कराते।)

माँ ने कहा है – Promise वचन दिया है – (१) जो लोग ठाकुर के शरणागत हैं, उनकी मृत्यु के समय तो अवश्य ही ठाकुर को उन्हें दर्शन देना ही होगा। माँ ने और भी कहा है – (२) देहधारण करने से दु:ख-कष्ट तो है ही। विधाता में इसे रोकने की क्षमता नहीं है। परन्तु यदि शान्ति चाहते हो, तो साधन-भजन करो। (३) जब मृत्यु का समय निश्चित ही नहीं है, तो कालाकाल का विचार करते हुए बैठे न रहकर जितनी जल्दी हो सके तीर्थ कर लेना चाहिये। (४) ''कर्म समाप्त क्यों नहीं होते?'' – इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा है, ''चर्खी में बहुत-सी सूत लपेटी हुई है। उन सबके निकल जाने पर ही तो वह खाली होगी।'' (५) ठाकुर ने एक दिन भी उन्हें (माँ को) कष्ट नहीं दिया।

(श्रीम ने माँ के इस 'पंचरत्न' का उपहार देते हुए भक्तों से अनुरोध किया – ''आप लोगों को माँ की जो भी बातें याद हैं, उन्हें सुनाइये।'' एक-पर-एक भक्तगण बोलने लगे।) आपस में उनकी बातें करने पर कितना उपकार होता है !

(एक अन्य दिन श्रीम के आदेश पर माँ की उक्तियों पर चर्चा करते समय यह उक्ति भी आयी, ''जिसे मंत्र मिला है, उसे ठाकुर की शरण प्राप्त है, ब्रह्मशाप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जो उनका शरणागत है, उसके अन्त समय में ठाकुर को दर्शन देना ही होगा।'')

अहा, कैसा आश्वासन है ! ठाकुर ने भी कहा था, ''शपथ लेकर कहता हूँ – जो मेरा चिन्तन करेगा, उसे मेरा ऐश्वर्य प्राप्त होगा, जैसे पिता का ऐश्वर्य पुत्र को मिलता है।'' इतना सब उन्होंने कहा, तो भी क्या लोगों को विश्वास होता है?

भक्तों के लिये माँ का कितना स्नेह था ! एक भक्त जयरामबाटी से दीक्षा लेकर चला जा रहा है। रोते-रोते माँ घर से बाहर उसे विदा करने आईं, जितनी दूर दृष्टि जाती है, उसे जाते देखती रहीं। दो-एक दिन का परिचय, लेकिन गर्भधारिणी माँ से अधिक स्नेह। फिर उनकी लौकिक बुद्धि भी कितनी तीक्ष्ण थी ! एक बार वे बोलीं – ''जप-तप आदि कुछ नहीं करना होगा।'' दूसरे समय उन्होंने कहा – ''जीवन में शान्ति चाहते हो, तो करना होगा।'' कितने सुन्दर ढंग से दो परम विपरीत भावों का समन्वय किया।

– ४ –

माँ का जीवन कैसा था? जब वे कामारपुकुर में थीं, तो ठाकुर ने उन्हें कैसी शिक्षा दी? कामारपुकुर ले जाकर मानो गृहस्थ-आश्रम का अभिनय किया। लोगों ने सोचा – चलो, गदाई अब संसारी हुआ। पर वे माँ के साथ सर्वदा ईश्वरीय बातें ही करते। उनका उद्देश्य सदा यही रहता, सदा यही शिक्षा देते कि कैसे माँ ईश्वर-केन्द्रित जीवन बिता सकें। ईश्वर -दर्शन ही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य है। वे दिन-रात इन्हीं सब बातों पर चर्चा करते कि किस प्रकार जीवन बिताने से यह उद्देश्य सिद्ध होता है, क्या करने से भक्त संसार में सबके साथ रहकर भी मन में सदा ईश्वरीय ज्ञान-भक्ति जाग्रत रख सकता है। फिर लौकिक शिक्षा भी देते थे। कहा था – भक्त सभी विषयों में निपुण होगा। जब जैसा तब तैसा, जहाँ जैसा वहाँ वैसा, जिससे जैसा उससे वैसा – उन्होंने स्थान, काल, पात्र का विचार करके चलने की शिक्षा दी थी।

माँ के जीवन से हमें ये दो शिक्षाएँ मिलती हैं – ब्रह्मचर्य और ईश्वर-तन्मयता – संयम और सेवा। वे भगवान के सिवा कुछ जानती ही नहीं थीं। वे सभी जीवों में ईश्वर-दर्शन करते हुए दिन-रात 'उनकी' सेवा करती थीं। माँ जो कुछ कह गयी हैं, वह सब मंत्र है। निवेदिता आदि अंग्रेजी जाननेवाली बड़ी-बड़ी विदुषी महिलाएँ भी हाथ जोड़कर उनके चरणों में बैठी रहतीं। इसका अर्थ यही है – आधुनिक भाव और आधुनिक शिक्षा उनके समक्ष नतमस्तक पड़े हैं।

माँ तब वृन्दावन में थीं। मठ वराहनगर में था। एक दिन वहाँ स्वामीजी के साथ बातें हो रही थीं। स्वामीजी ने माँ की बातें बतायीं। काशीपुर के बगीचे में एक दिन भक्तगण ठाकुर के समक्ष अपने प्रति माँ के स्नेह की चर्चा कर रहे थे। उस समय माँ ठाकुर के सेवार्थ उसी बगीचे में रहती थीं। भक्तों ने ठाकुर को बताया कि उन्होंने माँ के समान विशाल हृदय कभी नहीं देखा। मैंने स्वामीजी से पूछा, ''इस पर ठाकुर ने क्या कहा?'' स्वामीजी ने बताया, ''वे हँसने लगे और बोले – 'मेरी शक्ति है न, इसीलिये ऐसी है।' '' ❑❑❑

साधना के सूत्र (४)

स्वामी माधवानन्द

बेलूड़ मठ, गुरुवार, ३१ जनवरी, १९६३

सूर्य बादलों से ढँका रहता है। उसे देखकर छोटे बच्चे कहते हैं – माँ, आज सूर्योदय नहीं हुआ। इसी प्रकार हमारा मन अनेक व्यर्थ की चीजों को लेकर व्यस्त रहता है और इस प्रकार अज्ञान ने मन को आच्छन्न कर रखा है, इसीलिये हम भगवान को देख नहीं पाते। अत: हम यह नहीं कह सकते कि भगवान नहीं हैं।

वे सभी को पूरी तौर से समझने नहीं देते, ताकि संसार का खेल चलता रहे। यह उनका खेल – लीला है। अवतार होकर मनुष्य के रूप में आना और भी बड़ा खेल है। ठाकुर इस युग के युगदेवता हैं। उनकी इच्छा मात्र से महापुरुषों का निर्माण हो जाता है। 'वचनामृत' में उन्होंने भक्ति के बारे में ही अधिक कहा है। जब स्वामीजी तथा उनके अन्य त्यागी शिष्य आये, तो उनके सामने ठाकुर ने ज्ञान की बातें कहीं; सम्भव है कि उसी समय मास्टर महाशय आये और ठाकुर ने बातचीत की धारा को बदलकर नारदीय भक्ति की बात आरम्भ कर दी। इसीलिये हमें 'वचनामृत' में भक्ति के अतिरिक्त वे बातें पढ़ने को नहीं मिलतीं, जो वे अपने त्यागी शिष्यों को बताया करते थे।

उनके उपदेशों में शक्ति है, पढ़ने से उद्दीपना होती है, उनके पास से भीतर शक्ति प्राप्त होती है। उन्होंने कहा है – तीर्थ-दर्शन, व्रत, पर्व आदि मनाने से भी उत्तम है ईश्वर से प्रेम करना। जिस प्रेम को हमने संसार में बिखरा रखा है, उसे भगवान के ऊपर लाना होगा। छोटे शिशु के समान उनसे प्रेम करना होगा, उनसे हठ करना होगा।

इसके सिवा उन्होंने आन्तरिकता की बात भी कही है। आन्तरिक हुए बिना कुछ भी नहीं होगा। एक अन्य बात पर भी जोर देते हुए उन्होंने कहा है और वह यह कि भगवान की दृष्टि में सभी समान हैं। उन्होंने कहा है कि चन्दामामा सभी के मामा हैं। ईश्वर को पुकारने पर उन्हें पाया जा सकता है। यह कितनी आशाजनक बात है !

बेलूड़ मठ, रविवार, ३ फरवरी, १९६२

जब तक नौका की पाल में हवा नहीं लगती, तब तक कष्ट उठाकर भी डॉड चलाये जाना होगा। कृपा-वायु बहने लगी, तो फिर पाल उठा देने से ही काम हो जायेगा। तब डॉड नहीं चलाना होगा। जो खानदानी भक्त है, वह किसी भी हालत में छोड़ता नहीं। वर्षा हो या न हो, खानदानी किसान हर रोज हल लेकर खेत में अवश्य जायेगा। भले ही हम लोग उनकी दया को समझें या न समझें, परन्तु हमें भी इसी प्रकार नित्य उन्हें पुकारते रहना होगा।

जप करने से ही, उन्हें मंत्र से वशीभूत सर्प के समान खींचकर नहीं लाया जा सकता। उनके प्रति प्रेम ही असल बात है। प्रेम का संचार न हो, तो उन्हीं से कहना होगा – तुम्हीं हमारे भीतर थोड़ा-सा प्रेम उत्पन्न कर दो।

माँ किसी-किसी से कहतीं – तुम लोगों की आयु में मैंने कितना जप किया है ! फिर किसी अन्य से कहतीं – तुम्हें ज्यादा कुछ नहीं करना होगा। बिना कुछ किये क्या कुछ पाया जा सकता है? परन्तु यह बात याद रखनी होगी कि हम जो कुछ भी कर सकते हैं, वह भगवान की शक्ति से ही कर सकते हैं। खाना पकाने के समय देखते हो न – नीचे आग जलती है, इसी कारण ऊपर आलू-परवल उछलते रहते हैं।

उनके प्रेम की क्या कोई तुलना हो सकती है? संसार के किसी वस्तु के द्वारा उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। अन्य कुछ उसके तुल्य नहीं है, इसीलिये किसी वस्तु से तुलना करके बोलना पड़ता है।

विश्वास तथा आन्तरिकता रहे, तो भगवान का आसन डिग जायेगा।

बेलूड़ मठ, गुरुवार, ४ अप्रैल, १९६३

शास्त्रों में गुरु बनाने की बात कही गयी है। सद्‌गुरु कृपा करके शिष्य को इष्टमंत्र देते हुए साधना-पद्धति बता देते हैं। 'इष्ट' शब्द का अर्थ है – प्रिय। मुझे भगवान का जो रूप प्रिय है, वही मेरी इष्टमूर्ति है। और उनका जो नाम मुझे प्रिय है, वही मेरा इष्टमंत्र है। गुरु शिष्य को यही बताते हैं।

भगवान ने कृपा करके मंत्र के भीतर सारी शक्ति दे दी है। निष्ठा, अध्यवसाय तथा आग्रह के साथ उस मंत्र का जप करते रहना होगा। बहुत-से लोग सोचते हैं कि मंत्र लेते ही सब कुछ हो गया, अत: अन्य कुछ करने की जरूरत नहीं होगी। यह बिल्कुल ही गलत धारणा है। मंत्र पाने का अर्थ है कि तुमने मार्ग पर पहला कदम रखा। इसके बाद जितना ही चलोगे, मार्ग की दूरी उतनी ही कम होती जायेगी। मंत्र में विश्वास रखकर साधना किये जाना होगा। स्मरण रखना होगा कि सच्चिदानन्द ही सच्चे गुरु हैं। अनुनय-विनय सब उन्हीं से करना होगा। छोटे बालक-बालिकाओं के समान उनसे

जिद करनी होगी, हठ करना होगा। प्राणों के भीतर से उन्हें पुकारते जाओ, चिन्ता की क्या बात है? बालक जब खेलते-खेलते माँ को पुकारता है, तो माँ नहीं आती। परन्तु जब सब छोड़कर केवल माँ को ही पुकारने लगता है, तब माँ दौड़कर चली आती है। जरा भी विलम्ब नहीं करती।

हमारे मन में तरह-तरह की कामना-वासना भरी हुई है, इसीलिये हम उन्हें नहीं पाते। हममें से कितने लोग भगवान को सच्चे दिल से चाहते हैं। उनके आने पर भी, हम उन्हीं को न लेकर दुनिया की दूसरी चीजें माँगने लगते हैं। बुढ़िया के सिर पर टोकरी उठा देने की कथा जानते हो?

एक बुढ़िया सिर पर बोझ उठाये चली जा रही थी। जाते -जाते वह खूब थक जाने के कारण सड़क के किनारे बैठ गयी। बाद में वह अपनी टोकरी को अपने सिर पर उठा नहीं पा रही थी। उसे बहुत दूर जाना भी था। अन्य कोई उपाय न देख, वह पूरे हृदय से भगवान को पुकारने लगी। उसकी पुकार सुनकर भगवान उसके सामने प्रगट हुए। बोले – ''क्या चाहती हो?'' बुढ़िया आनन्द से गद्‌गद होकर बोली – ''प्रभो, जब तुम दया करके आ ही गये हो, तो इस टोकरी को उठाकर मेरे सिर पर रख दो।'' इसी से समझ लो।

पत्रों से संकलित

(१) बेलूड़ मठ, २९ मई, १९६३

मन स्वभाव से ही चंचल है। उसमें हमारे जन्म-जन्म के संस्कार पुंजीभूत होकर रहते हैं। वे ही सब मन को विक्षिप्त करते रहते हैं। इसीलिये निरन्तर प्रयास करके उसे वश में न लाने पर वह अशान्त ही रहेगा। मन स्थिर हो, या न हो, नियमित रूप से जप-ध्यान के लिये बैठना मत छोड़ना। ऐसा करते-करते मन धीरे-धीरे वश में आ जायेगा।

तुमने जिस सरल भाव से मन की चंचलता की बात सूचित की है, वह शुभ लक्षण है। चारों ओर उत्तेजना की वस्तुएँ फैली हुई हैं। विशेषकर यदि कम आयु से ही संयम के लिये निष्ठापूर्ण प्रयास न हो, तो ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों मन पर इन्द्रियासक्ति का प्रभाव भी बढ़ता जायेगा। और मन में बुरे भाव अपने आप तो आते नहीं है! हम लोग उन्हें आश्रय देते हैं, इसीलिये आते हैं। अत: वे तो ताक-झाँक करते ही रहेंगे, परन्तु तुम्हें बलपूर्वक उसके विपरीत अर्थात् पवित्र चिन्तन करना होगा; यथा – ठाकुर के निष्पाप जीवन का चिन्तन। अपने मन को यथेच्छ भटकने देना बुद्धिमान का कार्य नहीं है, बल्कि सावधानी के साथ उसकी दिशा को मोड़ लेना होगा।

प्रतिदिन ठाकुर तथा माँ के चरणों में तुम हार्दिक प्रार्थना करना कि वे उन समस्त मानसिक दुर्बलताओं को दूर कर दें। ... बुरे विचारों का रसास्वादन करके उसे हृदय में स्थान न दिया जाय। सभी बुरी आदतों को नियंत्रित करने में शुरू-शुरू में कष्ट होता है, परन्तु सुदृढ़ भाव से उन्हें दमन करने की चेष्टा करने पर, मन क्रमश: वश में आ जाता है। मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर लो कि व्याहारिक जीवन में तुम नीति के विरुद्ध कुछ भी नहीं करोगे।

स्वयं को कभी इतने पापी या दुष्ट मत सोचना। बल्कि स्वामीजी ने कहा है कि तुम्हारे भीतर सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं और वे केवल प्राकट्य की प्रतीक्षा कर रही हैं। इस बात को स्मरण रखने की चेष्टा करना। गीता (६/५) के इस श्लोक पर विशेष रूप से चिन्तन करना।

उद्धरेत् आत्मनात्मानं नात्मानं अवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।।

– अपने ही द्वारा अपना उद्धार करो। अपना अध:पतन कदापि न करना, क्योंकि तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो।

बेलूड़ मठ, २९ अगस्त, १९६४

तुम्हारा पत्र मिला है। पढ़कर तुम्हारे प्रति गम्भीर सहानुभूति हो रही है। तुम जी-जान से अपने मन में बल लाने की चेष्टा करो। स्वामीजी यही चाहते थे। हम लोग पूरे मन-प्राण से प्रयास नहीं करते, इसीलिये कई बार पूरा फल नहीं मिलता। ठाकुर तुम्हारे हृदय में बल प्रदान करें, ताकि तुम अपने स्वयं के पाँवों पर खड़े हो सको।

बेलूड़ मठ, ११ सितम्बर, १९६४

यदि जल्द-से-जल्द ठीक होना चाहते हो, तो मन में सदा सच्चिन्तन जगाये रखो। 'कुत्ते को छूट देने से वह सिर पर चढ़ता है' – बुरे विचारों के विषय में भी यही बात है।

ठाकुर को जैसे पुकार रहे हो, वैसे ही पुकारते रहो। परन्तु पूरे हृदय से पुकारना होगा, तभी फल होगा।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था –

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।।२/३।।

– हे अर्जुन, इस घोर संकट के समय आर्यों के लिए अनुपयुक्त, स्वर्ग में बाधक तथा कीर्ति का नाशक, यह मोह तुम्हारे मन में क्योंकर उत्पन्न हुआ? तुम कायर मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग, तुम उठकर खड़े हो जाओ।

इस श्लोक की बारम्बार आवृत्ति करना। इससे मन में उत्साह तथा प्रेरणा प्राप्त करोगे। ❑❑❑
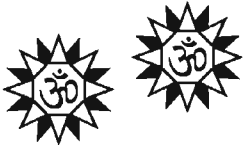
पत्रों में स्वामीजी की स्मृतियाँ (१)

जोसेफिन मैक्लाउड

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द की जीवनी के पाठकों के लिये मिस जोसेफिन मैक्लाउड का नाम सुपरिचित है। स्वामीजी उन्हें 'जो' कहकर पुकारते थे और उनके शिष्य तथा मित्रगण उन्हें 'जया', युम या 'टैंटाइन' के रूप में सम्बोधित करते थे।

जोसेफिन के पिता जॉन डेविड मैक्लाउड ने १८४५ ई. में मेरी एन. लेनन से विवाह किया था, जिससे उनके दो पुत्र तथा तीन कन्याएँ हुईं। उनके पूर्वज स्काटलैंड से आये थे और स्थायी रूप से शिकागो में बसने के पूर्व अमेरिका के विभिन्न स्थानों में रहे। उनकी पुत्रियों में वेस या बेट्टी (१८५२-१९३१) तथा जोसेफिन (१८५८-१९४९) स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण-वेदान्त-भावधारा के घनिष्ठ सम्पक में आयीं। बेट्टी ने १८७६ ई. में शिकागो के श्री विलियम स्टर्गीज के साथ विवाह किया था, जिससे उनके एक पुत्र होलिस्टर तथा एक कन्या अल्बर्टा हुई। बेट्टी के विवाह के बाद भी जोसेफिन उसके साथ ही रहती थी। १८९४ ई. में श्री विलियम स्टर्गीज की मृत्यु के बाद १८९५ ई. के सितम्बर में न्यूयार्क के एक धनाढ्य व्यवसायी श्री फ्रांसिस लेगेट से विवाह किया। स्वामीजी तब तक उनसे परिचित हो चुके थे, अत: वे भी पेरिस में सम्पन्न हुए इस विवाह में शामिल हुए। न्यूयार्क तथा न्यूयार्क के ही अल्स्टर काउंटी में स्टोन रिज के पास स्थित रिजले में बेट्टी ने अपनी नयी गृहस्थी बसायी। जैसा कि स्वाभाविक था जोसेफिन, होलिस्टर तथा अलबर्टा भी बेट्टी के इस परिवार के अंग हुए।

२९ जनवरी १८९५ ई. का दिन जोसेफिन के जीवन का एक स्मरणीय दिन था, क्योंकि उसी दिन उसने तथा बेट्टी ने पहली बार न्यूयार्क में स्वामीजी का वेदान्त पर व्याख्यान सुना। दोनों बहने स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित हुईं; और उन्हीं के माध्यम से श्री फ्रांसिस लेगेट, अल्बर्टा तथा होलिस्टर भी स्वामीजी के घनिष्ठ मित्र तथा प्रशंसक बन गये। पूरा परिवार स्वामीजी से प्रेम करता था और अपने ढंग से उनके कार्य तथा सन्देश के प्रचार में सहायता किया करता था।

प्रथम परिचय के दिन से ही जोसेफिन ने स्वामीजी को ईशदूत के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि वह औपचारिक रूप से उनकी शिष्य नहीं बनी, वह उनकी इतनी निष्ठावान प्रशंसक तथा मित्र बन गयी कि स्वामीजी उसे रामकृष्ण संघ की एक 'लेडी मिशनरी' (महिला प्रचारक) कहा करते थे। स्वामीजी के देहत्याग के बाद भी जोसेफिन रामकृष्ण संघ की प्रशंसक बनी रही और वे अनेक वर्षों तक संघ के बेलूड़ मठ स्थित मुख्यालय में आकर ठहरा करती थीं।

जोसेफिन का भारत के प्रति भी सुदृढ़ लगाव था और वह यथासाध्य भारत तथा इसकी जनता की भलाई के कार्यों में लगी रहती थीं। अंग्रेजी शासन के दौरान रामकृष्ण संघ को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता था; उन्होंने अंग्रेज सरकारी अधिकारियों के साथ अपने परिचय के द्वारा उन्हें सुलझाने में मठ की काफी सहायता की थी।

अपनी विश्व-भ्रमण की आदत के बावजूद जोसेफिन अपनी भांजी अल्बर्टा स्टर्गीज के साथ नियमित रूप से पत्र-व्यवहार किया करती थी। अल्बर्टा का विवाह १९०५ ई. में सैंडविच के आठवें अर्ल जार्ज मोंटगू के साथ हुआ था। जोसेफिन का स्वामीजी, रामकृष्ण संघ तथा भारत के प्रति सुदृढ़ अनुराग था, अत: उनके पत्रों में हमें स्वामीजी, उनके गुरुभाइयों तथा संघ के अन्य सदस्यों के संस्मरण और साथ ही भारत के प्रति उनका प्रेम तथा इस देश के लिये किये गये उनके कार्यों की भी झलक मिलती है। स्वामीजी के देहावसान के बाद भी वे लगभग आधी सदी तक जीवित रहीं और अल्बर्टा को लिखे हुए उनके पत्र स्वाभाविक रूप से ही बड़ी रोचक तथा जानकारियों से परिपूर्ण हैं। अल्बर्टा अपना यह मूल्यवान धरोहर अपनी पुत्री लेडी फेथ क्यूम-सेमोर को सौंप गयी थीं, जो डारसेट, इंग्लैंड के ब्रिडपोर्ट की निवासी थी। उनकी उदारता से १९११-१९४६ कालखण्ड के ये पत्र रामकृष्ण वेदान्त

सेंटर, लन्दन के प्रमुख स्वामी भव्यानन्द तथा उनके तत्कालीन सहकारी स्वामी योगेशानन्द के हाथ में आये, जिन्होंने काफी परिश्रम करके इन पत्रों से प्रासंगिक अंशों को लिख लिया। उन्होंने इन अंशों की साइक्लोस्टाइल्ड प्रतियाँ बनवायीं और कुछ वर्ष पूर्व रामकृष्ण संघ के कुछ संन्यासियों तथा भक्तों को भेजा था। इसकी एक प्रति अद्वैत आश्रम, मायावती के अध्यक्ष को भी इस आशय के साथ भेजी गयी थी कि यदि वे चाहें तो इन्हें 'प्रबुद्ध-भारत' मासिक में प्रकाशित कर सकते हैं।

'प्रबुद्ध-भारत' के सम्पादक के अनुरोध पर मैंने इन उद्धरणों को पढ़ा और स्वामी विवेकानन्द के भक्तों तथा अनुरागियों के लाभार्थ उन्हें यथासाध्य विषयवार सजाने का प्रयास किया। ये पत्र स्वामीजी के व्यक्तित्व और प्राच्य तथा पाश्चात्य में रामकृष्ण भावधारा के कुछ अब तक अज्ञात पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। उद्धृति-चिह्न के भीतर दी गयी सामग्री को मौलिकता की रक्षा के लिये उक्त पत्रों से शब्दश: लिया गया है; और धारावाहिकता बनाये रखने के लिये विभिन्न विषयों को मैंने अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। उद्धरणों के बाद पत्रों के दिनांक कोष्ठक में दिये गये हैं।

मिस जोसेफिन मैक्लाउड ने न्यूयार्क में पहली बार स्वामीजी का दर्शन किया। वह २९ जनवरी १८९५ ई. का दिन था। इस विषय में उन्होंने लिखा है – "स्वामीजी के साथ अपने परिचय का हर पर्व मुझे स्पष्ट याद है, क्योंकि पिछले अड़तालिस वर्षों से यह मेरे जीवन का आधार रहा है। हम डाब्सफेरी की श्रीमती डेविडसन के साथ निवास कर रही थीं और एक दिन जब हम न्यूयार्क में अपनी चाची डोरा रोएथल्सबर्जर के पास दोपहर का भोजन करने जा रही थीं, तो हमें उनका एक पत्र मिला – '३३ वीं गली के मकान संख्या ५४ पश्चिम में आ जाओ और स्वामीजी का व्याख्यान सुनो। इसके बाद हम लौटकर भोजन करेंगे।' तदनुसार (तुम्हारी) माँ[१] और मैं स्वामीजी के बैठकखाने में जा पहुँचीं। वहाँ बीस महिलाएँ तथा दो-तीन पुरुष उपस्थित थे। स्वामीजी फर्श पर बैठे हुए थे। उनका पहला वाक्य सुनकर मुझे बोध हुआ कि मैंने सत्य को सुना है, उस सत्य को, जो व्यक्ति को मुक्त कर देता है।" (९ दिसम्बर, १९४३)। "मुझे लगता है कि इकतालिस वर्ष पूर्व २९ जनवरी को जब मैंने स्वामीजी की बातें सुनी, तो मुझे ऐसी ही अनुभूति हुई थी। न जाने कैसे मैं शरीर से और स्थान-काल से परे चली गयी थी।" (२ जनवरी, १९३६)।

परवर्ती काल में जोसेफिन २९ जनवरी, १८९५ ई. को अपना आध्यात्मिक जन्मदिन मानती थी – वह दिन जब "उसे अपनी आत्मा की उपलब्धि हुई।" उन्होंने लिखा – "अगले २९ जनवरी को मैं अड़तालिस साल की हो जाऊँगी और साथ ही अपने शारीरिक जन्मदिन के हिसाब से चौरासी वर्ष की।" (२१ जनवरी, १९४३)। "ऐसा लगता है कि मेरा पूरा जीवन उस दिन की उस घटना से ही आरम्भ हुआ। मानो मेरे जन्म लेने का उद्देश्य पूरा हो गया और वह था – नवीन बुद्ध को पहचानना।" (९ मई १९२२)। परवर्ती जीवन में उस दिन का स्मरण करते ही उन्हें विस्मय का बोध होने लगता था। उनका विश्वास था कि यह भेंट पूर्व-निर्धारित थी – "अहा, स्वामीजी को देखते ही उन्हें असन्दिग्ध भाव से पहचान लेने का विस्मय; और उस पहचान के आधार पर ही मेरे जीवन के पिछले चौवालिस वर्षों का निर्माण हुआ है। (१३ मार्च, १९३९)। "तुम्हारा पन्द्रह वर्ष की आयु में और मेरा पैंतीस वर्ष की आयु में स्वामीजी के प्रभाव-क्षेत्र में आना – एक संयोग मात्र नहीं है, जैसा कि निवेदिता ने कहा था, 'उनके, जो आगामी ३००० वर्षों के प्रतिनिधि थे, वैसे ही जैसे कि श्रीरामकृष्ण ने पिछले ३००० वर्षों के प्रतिनिधि थे।' " (४ अक्तूबर, १९२३)

पहली बार भेंट होने के बाद जोसेफिन तथा उनकी दीदी नियमित रूप से स्वामीजी के व्याख्यानों में जाने लगीं, परन्तु कुछ सप्ताह तक उन्होंने इसे अपने मित्रों के समक्ष प्रकट नहीं किया। इस विषय में वे लिखती हैं – "(तुम्हारी) माँ और मैं सप्ताह में तीन दिन न्यूयार्क आते थे और शनिवार के दिन हम तुम्हें तथा होली[२] को भी साथ ले आते थे। वे (स्वामीजी) हमारी दृष्टि में इतने पवित्र थे कि हमने किसी के भी समक्ष उनका उल्लेख नहीं किया। कुछ सप्ताहों के बाद पैटर[३] ने हमें वाल्डोर्फ-अस्टोरिया में भोजन का आमंत्रण दिया था। (यह उस भवन के ठीक सामने स्थित था, जहाँ स्वामीजी के व्याख्यान हुआ करते थे।) हमने भोजन का आमंत्रण स्वीकार कर लिया था, पर कहा कि शाम का समय हम उनके साथ नहीं बिता सकेंगी। रात के आठ बजे जब हम व्याख्यान में जाने के लिये उठीं, तो श्री लेगेट ने कहा, 'तुम लोग कहाँ जा रही हो?' हमने कहा, 'एक व्याख्यान सुनने।' वे बोले, 'क्या मैं नहीं आ सकता हूँ?' हमने कहा, 'हाँ, हाँ, अवश्य चलो।' व्याख्यान ज्योंही समाप्त हुआ, पैटर स्वामीजी के पास गया और उन्हें भोजन के लिये आमंत्रित किया। भोजन के समय हमारा स्वामीजी के साथ व्यक्तिगत परिचय हुआ और इसके कुछ सप्ताह बाद ही हम सभी – तुम दोनों

१. श्रीमती बेट्टी लेगेट, जो अपने पहले विवाह से अल्बर्टा स्टर्गीज की माँ थीं। इन दिनों वे श्री विलियम स्टर्गीज की विधवा थीं।

२. होलिस्टर स्टर्गीज, बेट्टी स्टर्गीज के प्रथम विवाह का पुत्र।

३. श्री फ्रांसिस लेगेट, जिनका बाद में बेट्टी स्टर्गीज से विवाह हुआ।

बच्चे तथा स्वामीजी सहित – छह दिनों के लिये रिजले मैनर गये। ... इसके बाद तुम्हारी माँ और मैं स्वामीजी के साथ लेक क्रिस्टिन, न्यू हैम्पशायर के पर्सी कूज कम्पनी में पैटर से मिलने गये; और जब वे (बेट्टी तथा फ्रांसिस लेगेट) का विवाह तय हो गया, तो पेटर ने स्वामीजी से उस अवसर पर उपस्थित रहने का अनुरोध किया। इसके अगले दिन ही स्वामीजी इंग्लैंड में स्टर्डी के साथ रहने को चले गये और उन्होंने लंदन (सेंट जेम्स हॉल)[४] में बड़े व्याख्यानों की श्रृंखला आरम्भ की। लन्दन की सभी पत्र-पत्रिकाओं ने स्वामीजी का 'योगी' के रूप में उल्लेख किया। इसाबेल[५] ने इसे पढ़ा और उनसे मिलने गयी। बाद में उसने अपना लंदन का घर वेदान्त-समिति के कार्य हेतु किराये पर दे दिया और अपने दोनों पुत्रों – किटी तथा डेविड को स्वामीजी से आशीर्वाद भी दिलाया। इसलिये देखो, इसाबेल तथा मेरी मित्रता उस अनन्त पर आधारित है, जो हममें से प्रत्येक के जीवन में आया।'' (९ दिसम्बर, १९४३)

इन पत्रों से हमें ज्ञात होता है कि जोसेफिन तथा उनके सगे-सम्बन्धियों का स्वामीजी के साथ कैसा सम्पर्क था – ''हमारे परिवार की (पूर्ण स्वाधीनता देने की) इस प्रवृत्ति के कारण ही स्वामीजी हम लोगों के साथ तथा निकट रहे। कभी तो कितने ही दिन बिना कुछ बोले निकल जाते और कभी दिन-रात बातें चलतीं! हम लोग उनकी मन:स्थिति के अनुसार चलते और जब वे आसपास नहीं होते, तब हम अपने स्वयं के जीवन में व्यस्त हो जाते, और इसी में खुश रहते, ताकि उनके मन पर किसी तरह का बोझ न पड़े।'' (१९ दिसम्बर, १९१३)

स्वामीजी के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा के भाव ने उन सभी को एक सूत्र में बाँध रखा था – ''तुम तथा होली और वैसे ही तुम्हारी माँ, बड़े फ्रांसी[६] तथा मैं – हम सभी स्वामीजी को समझते और उनसे प्रेम करते थे। शायद ही किसी अन्य विषय पर हम सभी इतने आन्तरिक भाव से एकमत होते थे। हमारे जीवन में आनेवाला यही सबसे बड़ा सामंजस्य था और इसमें हममें से प्रत्येक शामिल था। (तुम्हारी) माँ, तुम और मैं – तीनों अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार अलग-अलग क्षेत्रों में आगे बढ़े हैं; परन्तु हममें से कोई भी उस आध्यात्मिक ऊर्जा को न तो पूरा खर्च कर सका है और न ही उसकी सीमाओं को स्पर्श कर सका है।'' (१५ नवम्बर, १९२६)

जोसेफिन के पत्रों में उनका स्वामीजी के प्रति दृष्टिकोण भलीभाँति प्रकट हो उठा है। उनकी दृष्टि में स्वामीजी अतुल्य थे – ''मेरा विश्वास है कि स्वामीजी इस पृथ्वी पर आनेवाली बृहत्तम आध्यात्मिक शक्ति थे।''[७] (२५ फरवरी, १९१३)। उनके लिये वे वर्तमान युग के ईशदूत थे – ''और नवीन बुद्ध को देखा है!'' (२२ जून, १९३९)। ''मैं सेंट जॉन के सुसमाचार को गहराई से पढ़ रही हूँ – रोमांच होता है! स्वामीजी के प्रभाव से कितना मिलता है! परन्तु उन्होंने जल को मदिरा में बदलने या नीरोग करने का नहीं, बल्कि अपनी उपस्थिति मात्र से लोगों का जीवन बदल देने का चमत्कार दिखाया। जब नये ईशदूत आते हैं, तो वे नये तरह के उपहार भी लाते हैं, ऐसा ही है न?'' (११ जून, १९४१)। वे उनकी असीमता पर विस्मित तथा श्रद्धान्वित हो गयीं – ''जिस चीज ने मुझे स्वामीजी से आबद्ध कर दिया, वह थी उनकी असीमता! मैं कभी उनके ऊपरी, निचले, दाँये या बाँये छोर का स्पर्श नहीं कर सकी। उनका विराट आकार! मुझे लगता है कि निवेदिता भी उसी में आबद्ध हो गयी थी।'' (१२ मार्च, १९२३)। बीच-बीच में स्वामीजी के प्रति उनका भाव बहुत व्यक्तिगत हो उठता था और तब वे उन पर अधिकार का भी दावा कर बैठती थीं – ''मुझे मुक्त करने के लिये ही स्वामीजी का आगमन हुआ था और यह भी उतना ही उनका जीवनोद्देश्य था, जितना कि निवेदिता को त्याग की दीक्षा देना या फिर श्रीमती सेवियर को अद्वैत में प्रतिष्ठित करना।'' (१२ मार्च, १९२३)। ''स्वामीजी केवल एक मित्र थे, परन्तु एक ऐसा मित्र जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया था और उस ईश्वरीय चेतना का मुझमें संचार किया। स्वामीजी से भेंट ने क्षण भर में ही मेरा जीवन बदल दिया।'' (२ जुलाई, १९४१)

परन्तु जोसेफिन सर्वदा ही स्वामीजी की विराटता पर आश्चर्य करती रहीं और विशेष रूप से अपने जीवन तथा सामान्य रूप से पूरे विश्व में उनकी भूमिका को स्वीकार करती रहीं – ''हमारे जीवन में विवेकानन्द-तत्त्व शाश्वत गुणवाला है। अत: हमें उस लीला में भाग लेना होगा।'' (४ अक्तूबर, १९२३)। ''सात वर्षों तक मैं एक वैश्विक शक्ति के साथ रही और उन्हें जाना। मैं इसके द्वारा पूरी तौर से ऊर्जान्वित हो गयी हूँ।'' (२३ अक्तूबर, १९२३)। ''स्वामीजी को थोड़ा भी जानना तथा आत्मसात् करना – कोई छोटी उपलब्धि नहीं है।'' (७ अप्रैल, १९२४)

४. उनका तात्पर्य सम्भवत: प्रिंसेप हॉल से है, क्योंकि अपनी पहली इंग्लैंड-यात्रा के समय स्वामीजी ने वहीं पर कई व्याख्यान दिये थे।

५. लेडी इसाबेल मार्गसन, एक अंग्रेज शिक्षा-शास्त्रिणी तथा मिस मैक्लाउड की मित्र थीं। ये बाद में स्वामीजी की प्रशंसक हो गयीं और अपनी द्वितीय इंग्लैंड-यात्रा के समय स्वामीजी इन्हीं के यहाँ ठहरे थे।

६. श्री फ्रांसिस लेगेट

७. यह पंक्ति अल्बर्टा के पति जार्ज मोंटगू के नाम पत्र से गृहीत है।

स्वामीजी उन्हें सुरक्षा का भाव प्रदान करते थे – ''चाहे जिस रूप में भी हो, स्वामीजी हम सबके पीछे विद्यमान हैं।'' (५ मार्च, १९१४)। ''हमारा जीवन अन्धी नियति के हाथों में नहीं है। हम निर्देशित तथा संरक्षित हैं। हम इसमें एक तरह से विश्वास करते हैं, परन्तु यदि हमें इसका अनुभव हो तो क्षण भर के लिये भी चिन्ता नहीं रहेगी।'' (१२ जुलाई, १९१६)। ''मुझे लगता है कि स्वामीजी हमारे खड़े होने के लिये एक चट्टान के समान थे – मेरे जीवन में उनकी यही भूमिका थी। कोई पूजा नहीं, कोई महिमा नहीं, परन्तु अविचलित भाव से खड़े होने के लिये पाँवों के नीचे एक स्थिरता।'' (१२ मार्च, १९२३)

उन्होंने जोसेफिन को विश्वास दिया – ''हमारी महान् भूमिका अभी भी आरम्भ होनेवाली है। कहाँ? कैसे? मैं नहीं जानती और न इसकी परवाह करती हूँ – परन्तु हमारा स्वामीजी के साथ निवास तथा प्रेम निरर्थक नहीं था। यह निश्चित रूप से फलीभूत होगा, परन्तु यदि ऐसा नहीं हुआ, तो भी उन्हें जानने से ही हमारे इहलोक तथा परलोक धन्य हो गये।'' (१५ जून, १९१४)

अनेक अवसरों पर जोसेफिन को यह जानने का मौका मिला कि कैसे स्वामीजी ने अन्य लोगों के जीवन में परिवर्तन ला दिया था। ऐसी कुछ घटनाओं का उन्होंने अपने पत्रों में उल्लेख किया है – ''श्री (होमर) लेन कहते हैं कि स्वामीजी ने उनके लिये सब कुछ पवित्र बना दिया है – पूरा जीवन, प्रयास, कार्य, खेल, प्रार्थना – जीवन के सभी पूरक तथा आवश्यक अंग समान रूप से पवित्र हैं।'' (११ फरवरी, १९१३)। ''पिछले चौदह वर्षों से स्वामीजी के प्रति सर्वदा भक्तिमती रहनेवाली तीन बहनों में से एक श्रीमती हैन्सब्रो[८] ने कल बताया कि यहाँ (लास एंजेलेस) हुए स्वामीजी के एक अद्भुत व्याख्यान के बाद एक व्यक्ति उठकर बोला, 'तो स्वामीजी, आपका दावा है कि सब कुछ अच्छा है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'बिल्कुल नहीं, मेरा दावा है कि सब कुछ का नहीं, केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है ! इसी में सारा भेद निहित है।' और श्रीमती हैन्सब्रो का कहना है कि उनका वह एक वाक्य ही वह चट्टान है, जिस पर वे इतने वर्षों से रहती आयी हैं।'' (१६ मार्च, १९१४)। ''सेंट पीटर्स के भव्य धार्मिक अनुष्ठानों के विषय में रोम में स्वामीजी ने तुमसे कहा था, 'यदि तुम साकार ईश्वर में विश्वास करते हो, तो निश्चय ही तुमको उन्हें अपनी सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्रदान करनी होगी !'' (५ नवम्बर, १९२३)। ''आज मैंने अलवर के महाराजा को (फिर) पत्र लिखकर १७ जनवरी को होनेवाले स्वामीजी के जन्म-दिवस समारोह के लिये आने को आमंत्रित किया है। ... लगता है कि उनमें स्वामीजी की अग्नि प्रज्वलित हो चुकी है। उन्हीं के पिता ने तो स्वामीजी से पूछा था, 'इन सारी मूर्तियों तथा प्रतिमाओं की क्या जरूरत है?' और स्वामीजी ने उनके दीवान की ओर उन्मुख होकर कहा था, 'महाराजा का वह चित्र उतारकर नीचे रखो और उस पर थूको।' दीवान ने कहा, 'महाराज की उपस्थिति में भला मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ? स्वामीजी के बारम्बार अनुरोध पर भी दीवान ने बारम्बार इन्कार किया। तो स्वामीजी बोले, 'यह तो महाराजा नहीं हैं, यह तो केवल उनका चित्र मात्र है, वे स्वयं नहीं हैं।' तब महाराजा ने समझ लिया था कि मूर्ति इसलिए पूज्य है कि वह ईश्वर की याद दिलाती है।'' (९ दिसम्बर, १९२४)। ''श्रीरामकृष्ण द्वारा अपने जीवन में प्रदर्शित हिन्दू धर्म की महान् शाश्वत परम्पराओं को स्वामीजी पुन: अपने राष्ट्र में स्थापित कर रहे हैं; और यही वह नया खमीर हो, जो भारतवर्ष को प्लावित करते हुए सम्पूर्ण विश्व में फैल रहा है। इसी को गीता – नित्य: (शाश्वत), सर्वगत: (सर्वव्यापी), स्थाणु: (स्थिर) कहती है। इस सप्ताह के तुम्हारे पत्र में भी मुझे इसी की झलक दीख रही है, 'स्वामीजी ने अकारण ही मुझे आशीर्वाद नहीं दिया था, या फिर बैठकर रोने की शिक्षा नहीं दी थी। भले ही इस समय मेरी अवस्था ठीक नहीं है, परन्तु मैं इसका सामना करूँगी।' '' (१५ नवम्बर, १९२६)।

''अनेक वर्षों पूर्व शिवानन्दजी से मंत्रदीक्षा प्राप्त एक पारसी युवक – क... ने स्वामीजी के बारे में मुझे एक बड़ी सुन्दर कथा सुनायी, जो उसने एक माह पूर्व अजमेर में दो अमेरिकियों के मुख से सुनी थी। मिशनरियों ने उन्हें स्वामीजी के प्रभाव को नष्ट करने हेतु भारत भेजा था। जब वे पहुँचे, उस समय स्वामीजी गहन ध्यान में डूबे हुए थे। परन्तु बाद में जब वे उन लोगों से मिलने आये, उस समय ध्यान के कारण उनके चेहरे से ज्योति निकल रही थी। इससे वे लोग इतने अभिभूत हो गये कि वे स्वामीजी की ओर उन्मुख होकर पूछने लगे, 'हमें सत्य कहाँ मिलेगा?' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'परन्तु सत्य तो सर्वदा तुम्हारे साथ ही है।' यह सुनकर वे दोनों उनके शिष्य बन गये और कभी भारत छोड़कर नहीं गये। अब वे वृद्ध हो गये हैं।'' (९ फरवरी, १९३९)। ❖ **(क्रमश:)** ❖

---

८. श्रीमती एलिस मीड हैन्सब्रो, जो दक्षिणी पसाडेना (कैलीफोर्निया) की मीड बहनों में से एक थीं। जब स्वामीजी पश्चिम तटीय अमेरिका का दौरा कर रहे थे, उस समय ये उनके व्याख्यानों का आयोजन तथा रहने की व्यवस्था करती थीं।

शिक्षक : क्रान्ति का अग्रदूत (२)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

(स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन आश्रम, बड़ोदरा, गुजरात के सचिव हैं। उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण व्याख्यान १७ दिसम्बर, २००३ को 'अहमदाबाद मैनेजमेन्ट एसोसियेशन' (AMA) में दिया था। वर्तमान परिवेश में शिक्षकों की महती भूमिका को देखते हुये इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, छत्तीसगढ़ के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

हमारे महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी अपनी पुस्तक "India 2020 : A Vision Of The New Millennium" में लिखते हैं, ''यदि आप शिक्षक हैं, चाहे आपकी जितनी भी क्षमता है, तो आपकी विशेष भूमिका है। क्योंकि बच्चों के भविष्य-निर्माण में अन्य किसी की अपेक्षा आपका योगदान अधिक है।'' इसलिये यहाँ पर शिक्षक की भूमिका पथ-प्रदर्शक के रूप में आती है। यदि आप विराट स्तर पर परिवर्तन चाहते हैं, तो उसका प्रारम्भ छोटे स्तर के परिवर्तन के द्वारा होना चाहिये। यदि हम देश को बचाना चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही अपने देश के लोगों के चरित्र का विकास करना होगा। अन्यथा देश उन्नति नहीं कर सकता। सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में एक मुकदमा था, जिस पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री हंसरिया जी ने CBSE के विरुद्ध निर्णय सुनाया और आदेश दिया कि संस्कृत विषय को ऐच्छिक विषय के रूप में जारी रखें, इसे पाठ्यक्रम से पूर्णतया हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। राष्ट्र की संस्कृति को सुरक्षित रखने के सन्दर्भ में उन्होंने एक दृष्टान्त सुनाया। यू.के. और जर्मनी के बीच युद्ध चल रहा था। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक अपने अध्ययन कक्ष में कुछ पढ़ने में तल्लीन थे। जब एक सैनिक उनके कक्ष में प्रवेश किया और उन पर दोषारोपण करते हुये कहा कि सैनिक देश के लिये युद्ध लड़ रहे हैं और वे यहाँ कुछ न करते हुये बेकार बैठे हुये हैं। प्राध्यापक ने शान्तभाव से सैनिक से पूछा कि राष्ट्र की सुरक्षा से उसका क्या तात्पर्य है? सैनिक ने कहा कि इसका तात्पर्य है – राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा करना। प्राध्यापक ने कहा कि क्या इसका इतना ही तात्पर्य है? सैनिक थोड़ी देर सोचने के बाद कहा – राष्ट्र के लोगों और सभ्यता-संस्कृति की रक्षा करना भी इसका तात्पर्य है। प्राध्यापक ने कहा कि वह राष्ट्र की सभ्यता-संस्कृति की रक्षा कर रहा था। यह सुनकर सैनिक ने प्राध्यापक को प्रणाम किया और चला गया।

पथ-प्रदर्शक शिक्षकों के दृष्टान्त

कैसे एक सामान्य शिक्षक समाज में विशेष परिवर्तन ला सकता है, इसके कुछ दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

श्री **महेन्द्र नाथ गुप्त** एक साधारण शिक्षक थे। एक बार वे अचानक कोलकाता में स्थित दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर गये, जहाँ श्रीरामकृष्ण रहते थे। उस समय उनके परिवार में बहुत-सी समस्यायें थीं, जिससे त्रस्त होकर वे आत्महत्या करने की भी सोच रहे थे। संयोगवश उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कक्ष में प्रवेश किया और उनसे भेंट की। श्रीरामकृष्ण के दर्शन और वार्तालाप से उन्हें इतनी मानसिक शान्ति मिली कि उन्होंने आत्महत्या करने का विचार त्याग दिया। वे प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण के पास जाने लगे और श्रीरामकृष्ण के द्वारा भक्तों से हुई वार्तालाप को अपनी डायरी में लिखने लगे। जब स्वामी विवेकानन्द जी को इसकी जानकारी हुई, तो वे बहुत प्रसन्न हुये और उन्होंने कहा कि इस डायरी में बहुत ही महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हैं और इसे पुस्तक के रूप में मुद्रित करना चाहिये। बाद में यह डायरी सर्वप्रथम बंगला भाषा में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुई और अँग्रेजी में 'The Gospel Of Sri Ramakrishna' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। इसके बाद इसका अनुवाद हिन्दी, गुजराती, तमिल, तेलगू, मराठी, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, स्पानिस, जापानी, रूसी, डच, ग्रीक, फ्रेंच और विश्व के अन्य कई भाषाओं में हुआ। विगत सौ वर्षों में इसकी लाखों प्रतियाँ बिक गयीं और इसके अध्ययन से लाखों लोग मानसिक शान्ति तथा आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन प्राप्त कर रहे हैं। इसके कारण अनेकों लोग आत्महत्या करने से बच गये। स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने २४ नवम्बर, १८९७ के पत्र में लेखक (जो अपने को 'म' से संबोधित करते थे) के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये लिखा – ''सुकरात के वार्तालाप में प्लेटो-ही-प्लेटो की छाप है, अधिकांश प्लेटो का ही उल्लेख है, परन्तु आप स्वयं तो इसमें अदृश्य ही हैं। साथ-ही-साथ नाटकीय पहलू परम सुन्दर है। यहाँ (भारत) और पश्चिम (विदेश) में दोनों जगह लोग इसे बहुत पसन्द करते हैं।'' इस, पुस्तक की प्रस्तावना में महान सावन्त अल्डौस हक्शले लिखते हैं – ''अपनी प्रकृति के उपहारों का सदुपयोग कर और जिन परिस्थितियों में श्री 'म' ने इस ग्रन्थ की रचना की है, सन्त चरित्र-लेखन में या सन्त-साहित्य में जहाँ तक मेरी जानकारी है, उनमें यह

ग्रन्थ अनुपम है।'' आज यह पुस्तक आदर्श-शिक्षा, मूल्यनिष्ठ शिक्षा के रूप में समाज की महान सेवा कर रही है।

दूसरा दृष्टान्त है **भगिनी निवेदिता** (१८६७-१९११) का। उनका असली नाम था मिस मार्गरेट नोबल। वे इंग्लैंड में एक साधारण शिक्षिका थीं। वे स्वामी विवेकानन्द जी के व्याख्यानों से, उनके विचारों से बड़ी प्रभावित हुईं। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी उनमें विद्यमान गुणों को देखा और उन्हें भारत की सेवा के लिये जीवन समर्पित करने को कहा। क्योंकि उन्होंने यह अनुभव किया कि हमारा देश तब तक विकास नहीं कर सकता, जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होता और महिलाओं की स्थिति तब तक नहीं सुधर सकती, जब तक वे शिक्षित नहीं हो जातीं। उस समय केवल एक प्रतिशत महिलायें ही शिक्षित थीं। वे केवल बालिकाओं के लिये ही एक विद्यालय आरम्भ करना चाहते थे। किन्तु उनके इस कार्य में सहायता करने के लिये कोई भी अग्रसर नहीं हुआ। स्वामीजी ने ७ जून १८९६ को निवेदिता को एक प्रेरणाप्रद पत्र लिखा – ''उठो ! उठो ! संसार दुख से जल रहा है। क्या तुम सो सकती हो? हम तब तक बार-बार पुकारते रहें, जब तक सोये हुये देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। ...जगत को प्रकाश कौन देगा? बलिदान भूतकाल से नियम रहा है, और हाय! युगों तक इसे रहना है। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठ जनों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय', अपना बलिदान करना होगा।'' इसके बाद भगिनि निवेदिता आयीं और भारत की सेवा में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन निवेदित, समर्पित कर दिया। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें ब्रह्मचर्य दीक्षा देकर उनका नाम 'निवेदिता' रखा। इसका अर्थ है, जिसने स्वयं को निवेदित कर दिया हो, समर्पित कर दिया हो। उनकी आत्मकथा पठनीय है। उन्होंने कोलकाता में एक विद्यालय आरम्भ किया। अब वह विद्यालय वहाँ विख्यात हो गया है और उसका पुन: नामकरण हुआ है – 'सिस्टर निवेदिता गर्ल्स स्कूल'। अभी-अभी उस विद्यालय का 'शताब्दी महोत्सव' मनाया गया, जिसमें भारत के पूर्व राष्ट्रपति श्री नारायणन् जी भी उपस्थित थे। लेकिन विद्यालय ने अनेकों कठिन परिस्थितियों से संघर्ष किया है। प्रारम्भ में प्रचलित बहुत-सी सामाजिक प्रथाओं के कारण लोग अपनी बालिकाओं को स्कूल में पढ़ने के लिये भेजने में संकोच करते थे। भगिनी निवेदिता को घर-घर जाना पड़ता था और सभी अभिभावकों से यह वादा करना पड़ता था कि उनकी लड़की को वे स्वयं आकर स्कूल में ले जायेगीं और पुन: स्कूल के बाद घर पर सुरक्षित पहुँचा जायेंगी। सभी बालिकाओं को नि:शुल्क भोजन दिया जाता था। वे सभी बालिकाओं का व्यक्तिगत रूप से स्वयं ध्यान रखती थीं और सबका नाम भी जानती थीं। वे प्रत्येक छात्रा के बारे में अपनी डायरी में लिखती थीं। उस समय श्री रबीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द जी उन्हें 'लोकमाता' कहते थे। वे बहुत से क्रान्तिकारियों को प्रेरणा प्रदान करनेवाली थीं। अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद भी वे अपनी बालिकाओं के साथ रहती थीं और एक आदर्श शिक्षिका थीं। आप थोड़ी कल्पना करें कि कैसे एक सामान्य शिक्षक सबको प्रेरित करता है। भगिनी निवेदिता और दूसरों के द्वारा प्रेरित बंगाल में आरम्भ किये गये सभी क्रान्तिकारी-आन्दोलनों की अन्तिम परिणति भारत की स्वतंत्रता में हुई। कितने आश्चर्य की बात है कि यू.के. की एक शिक्षिका ने अँग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। एकबार वे रात्रि-भोजन के लिये श्री जगदीश चन्द्र बोस के यहाँ गयी हुई थीं। अचानक उन्हें प्रफुल्लमयी की याद आयी, जो उनके यहाँ की एक विधवा छात्रा थी। उस दिन वह एकादशी का व्रत-पालन कर रही थी। भगिनी निवेदिता को उसे फलाहार कराना था। वे स्वयं वहाँ से क्षमा माँगी और अचानक उठकर वापस विद्यालय में चली गयीं तथा उसे फल दिया और उससे क्षमा-याचना की। ऐसी उनकी समर्पण-भावना थी !

स्वामी प्रेमेशानन्द जी (१८८४-१९६७) भी एक साधारण शिक्षक थे। उन्होंने बहुत से छात्रों को प्रेरित किया, जिनमें से अनेकों बाद में महान लेखक, कवि आदि बने तथा अनेकों रामकृष्ण संघ के संन्यासी भी बने, जो आज हालीवुड, दिल्ली और अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्रों का संचालन कर रहे हैं।

एक सामान्य शिक्षक महान कार्य कर सकता है, इसलिये शिक्षक को सर्वाधिक सम्मान देना चाहिये। दुर्भाग्यवश, आजकल हमलोगों का विपरीत मनोभाव हो गया है। किसी तरह से एक खराब परिवेश निर्मित हो गया है। चूँकि शिक्षक गरिमापूर्ण ढंग से व्यवहार नहीं करते, इसलिये उन्हें सर्वाधिक सम्मान नहीं दिया गया और अभी भी नहीं दिया जा रहा है। इसलिये वे लोग अपने को एक सामान्य शिक्षक ही मानते हैं। वे लोग सोचते हैं कि यदि समाज के दूसरे लोग धन के पीछे दौड़ रहे हैं, तो वे लोग ही क्यों पीछे रहें! वे लोग भूल गये हैं कि वे समाज का तथाकथित अनुसरण करने के लिये नहीं हैं। वे समाज के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्हें अग्रदूत बनकर, नायक बनकर समाज का नेतृत्व करना है। यदि बुरे परिवेश को सुधारना है, तो शिक्षक को त्याग करना होगा, बलिदान देना होगा। इसलिये बलिदान! बलिदान ! भूतकाल में बलिदान था और आगामी युगों तक रहेगा।

इलेक्ट्रीक-शॉक की त्वरित आवश्यकता

मैंने अब तक कोई नयी बात नहीं कही है। हम सभी लोग इसे जानते हैं। हमारी समस्या तब खड़ी होती है, जब हम उसे आचरण में लाने का प्रयास करते हैं। हमारी स्थिति

ठीक उस शराबी की तरह है, जो एक मृतक, शव का अभिनय कर रहा था। एक बड़ी मनोरंजक कहानी है। एक बार कोलकाता में पाँच शराबी एकत्रित हुये। बहुत रात हो गयी थी और प्रतिदिन की अपेक्षा थोड़ी अधिक शराब भी उन लोगों ने पी ली थी। उनलोगों ने शव-यात्रा जुलुस निकालने की एक निराली योजना बनायी। इसलिये एक शराबी, मृतक का स्वांग कर खाट पर सो गया। अन्य चार शराबियों ने खाट को अपने कन्धों पर उठाया और श्मशान भूमि की ओर 'राम नाम सत्य है' कहते हुये आधी रात में जाने लगे। जब यह जुलुस एक चौराहे पर पहुँची, तब सामने के शराबी खाट को एक ओर तथा पीछे के शराबी दूसरी ओर, एक-दूसरे की विपरीत दिशा में खींचने लगे। इन सब खीचा-तानी और झगड़े में खाट पर का सोया हुआ शराबी उठकर बैठ गया और पूछा कि वे लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं? खाट को ढोने वाले शराबियों ने उत्तर दिया कि कुछ लोग कहते हैं कि श्मशान-स्थल इधर की ओर है और कुछ लोग कहते हैं कि श्मशान-स्थल उधर इसकी उल्टी दिशा में है, इसी संशय में ये सब गड़बड़ी हो रही है। तब खाट के ऊपर बैठा हुआ शराबी ने अन्य चारों शराबियों से कहा – तुम लोग मूर्ख हो, अब तक तुम लोग इतना सीधा रास्ता भी नहीं जानते। पुन: उसने कहा – ''मैं केवड़ाताला श्मशान-भूमि और नीमताला-श्मशान-भूमि, दोनों को ही जानता हूँ, किन्तु मैं तुमलोगों को मार्ग नहीं बता सकता, क्योंकि मैं मृतक का अभिनय कर रहा हूँ।'' ठीक ऐसी ही हमारी स्थिति है। हम अपनी सभी समस्याओं का समाधान जानते हैं, लेकिन जो कहते हैं, उसे आचरण में, व्यवहार में नहीं लाते। आप जानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति सो रहा हो, तो उसे जगाना आसान है, किन्तु उस व्यक्ति को कैसे जगाया जा सकता है, जो सोने का ढोंग (स्वांग) कर रहा हो? इसका एकमात्र उपाय विद्युत-आघात (इलेक्ट्रीक-शॉक) देना ही है और इसे हम स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों को पढ़कर ही प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों के प्रभाव के विषय में फ्रेंच विद्वान् महान रचनाकार रोमॉ-रोलॉ लिखते हैं – ''उनके (स्वामी विवेकानन्द के) शब्द महान संगीत हैं, बीथोबेन की शैली के टुकड़े हैं। हैंडेल के समवेत गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत-स्पर्श के समान आघात की सिहरन का अनुभव किये बिना, मैं उनके इन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं।''

जब स्वामी विवेकानन्द जी अमेरिका और अन्य देशों की अपनी यात्रा से चार वर्षों तक वेदान्त प्रचार करने के बाद भारत वापस आये, तो वे जहाँ भी गये, वहाँ उनका भव्य विशाल स्वागत हुआ तथा स्वागत के प्रत्युत्तर में उन्होंने अनेकों जोशीले व्याख्यान दिये। उन व्याख्यानों के सार-संग्रह को 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। एक दूसरी पुस्तक 'मेरा भारत अमर भारत' में भी हम उन प्रेरक ज्वलन्त वाणियों को प्राप्त कर सकते हैं। कटक में कक्षा नवीं में पढ़ने वाले एक छात्र ने स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तक पढ़ी और देश की सेवा में अपना जीवन समर्पित करने का निर्णय लिया, जो बाद में नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के नाम से जाना गया। डॉ. राधाकृष्णन् जी कहा करते थे कि जब वे अपने मित्रों को पत्र लिखते थे, तब वे स्वामी विवेकानन्द जी के पत्रों का उद्धरण देते थे, क्योंकि उस समय जो लोग उन पुस्तकों को पढ़ते थे, अँग्रेजी सरकार उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती थी। बम की खोज में गुप्तचर विभाग C.I.D. ने प्राय: सभी क्रान्तिकारियों के घर में छापे डाले, लेकिन बम से भी खतरनाक वस्तु उन्हें स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकें मिलीं। इसलिये गुप्तचर विभाग ने अँग्रेज सरकार को परामर्श दिया कि स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दी जाय। पं. जवाहरलाल नेहरू जी ने कहा है कि उनके समय में मुश्किल से ऐसा कोई युवक होगा, जो स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों से प्रेरणा प्राप्त न करता हो। ३० जनवरी १९२१ को महात्मा गाँधी जी बेलूड़ मठ (रामकृष्ण संघ का प्रधान कार्यालय) आये। जब वहाँ गाँधीजी को व्याख्यान देने के लिये कहा गया, तब उन्होंने विनम्रता से कहा – ''मैं यहाँ व्याख्यान देने नहीं आया हूँ। मैं तो स्वामी विवेकानन्द जी के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करने आया हूँ। जो युवक यहाँ उपस्थित हैं, मैं उनसे एक ही बात कहूँगा कि कृपया यहाँ से खाली हाथ मत जाइये। इस महान स्थान से कुछ प्रेरणा लीजिये। स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों को पढ़िये। मैंने स्वयं उनके ग्रन्थों का अध्ययन किया है। उनकी पुस्तकों के पढ़ने से मेरी देशभक्ति हजार गुना अधिक बढ़ गयी।'' अत: स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकों में महान शक्ति है। ये पुस्तकें विद्युत-स्पर्श के आघात के समान कार्य करेंगी और उन्हें (शिक्षकों को) जाग्रत करेंगी तथा उन्हें याद दिलायेंगी कि वे समाज के पथ-प्रदर्शक हैं, क्रान्ति के अग्रदूत हैं। उन्हें जनसाधारण की भाँति एकदेशिय मार्ग का अनुगामी नहीं होना है। यदि अधिकारी, व्यापारी, मंत्री आदि धन के पीछे दौड़ते हैं, तो वे क्षमा किये जा सकते हैं, किन्तु शिक्षक को क्षमा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके बुरे आचरण से हजारों छात्र प्रभावित होते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने हमें मन्त्र दिया है – ''बनो और बनाओ''। सर्वप्रथम हम अपने चरित्र का निर्माण करें और उसके बाद दूसरे के चरित्र-निर्माण में सहायता करें। शिक्षकों के सुप्रभाव से छात्र महान बन सकते हैं और उनके कुप्रभाव से दैत्य भी बन सकते हैं। ये सभी चीजें इस पर निर्भर करती

हैं कि छात्र हमसे कैसी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। छात्रों के सन्दर्भ में हम उन्हें क्या कहते हैं, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि हमारा चरित्र कैसा है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन के आदर्श या जीवन के मूल्य सिखाये नहीं जाते, बल्कि ग्रहण किये जाते हैं। आजकल के छात्र बुद्धिमान हैं। वे शिक्षकों को ठीक से जानते हैं कि कक्षा आदि के बाद ये क्या करते हैं। यदि आप छात्रों को सत्य बोलने को कहें और स्वयं सत्य न बोलें, स्वयं जीवन में सत्य का आचरण न करें, तो इसका कोई प्रभाव उन पर नहीं होगा।

आपने शायद यह कहानी सुनी होगी। कुछ बच्चे खेल रहे थे। एक शिक्षक उस रास्ते से गुजर रहे थे। उन्होंने बच्चों से पूछा कि वे लोग क्या कर रहे हैं। उन लोगों ने कहा कि वे लोग एक खेल खेल रहे हैं, जिसमें जो सबसे बड़ा झूठ बोलेगा, उसे पुरस्कृत किया जायेगा। शिक्षक ने कहा कि वे ऐसी खेल न खेलें और हमेशा सत्य बोलें। उन्होंने और भी कहा कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में कभी झूठ नहीं बोला है। यह सुनकर सभी बच्चों ने तालियाँ बजायी और एक साथ चिल्लाकर कहा – "सर ! तब तो आपने ही प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर लिया।" इसलिये हम क्या कहते हैं, वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि हम क्या करते हैं, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षकों के लिये सफलता का मन्त्र

शिक्षकों से वार्तालाप के दौरान मैं उन्हें सफलता का निम्नलिखित मंत्र देता हूँ –

S = 3D + 3QS = सफलता – अध्यापन जीवन में सफलता।

D - स्वाभिमान, समर्पण और निष्ठा

Q = IQ - बौद्धिक गुणांक

EQ - भावनात्मक गुणांक

SQ - आध्यात्मिक गुणांक

मैं जहाँ कहीं भी जाता हूँ, शिक्षकों से वार्ता के दौरान उन्हें निम्नलिखित मन्त्र देता हूँ, जिसकी प्रतिदिन १० बार पुनरावृत्ति करनी है। वह मन्त्र है – 'मैं शिक्षक हूँ।' भले ही इसकी आवाज सामान्य हो सकती है, लेकिन इसका उच्चारण कैसे सबसे भिन्न बनाता है ! जब भी मैं शिक्षकों से पूछता हूँ, "आप क्या करते हैं?" वे कहते हैं, 'मैं शिक्षक हूँ'। वह भी ऐसे मुरझाये हुये मुख-मुद्रा से, जैसे कि मानो विवश होकर मजबूरी में शिक्षक बने हों। जबकि उसके बदले व्यक्ति को शिक्षक होने का गर्व होना चाहिये और उसे स्वाभिमान के साथ कहना चाहिये – "मैं शिक्षक हूँ, मैं राष्ट्र-निर्माता हूँ। मैं समाज का पथ-प्रदर्शक हूँ। मैं सामाजिक परिवर्तन का नायक हूँ। मैं क्रान्ति का अग्रदूत हूँ। मैं कितना महान हूँ ! मैं कितना राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ ! मेरे ऊपर राष्ट्र का, समाज का कितना उत्तरदायित्व है !" मैं अनुभव करता हूँ कि विश्व में यदि कोई सबसे अच्छा और महान व्यवसाय है, तो वह है शिक्षक का। क्योंकि राष्ट्र का भविष्य मुख्यत: मंत्रियों, प्रशासनिक अधिकारियों, वैज्ञानिकों आदि पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि शिक्षकों पर निर्भर करता है। क्योंकि वह शिक्षक ही है, जो भविष्य के मंत्रियों, प्रशासनिक अधिकारियों, वैज्ञानिकों आदि का निमार्ण करता है, उन्हें गढ़ता है। इसके अतिरिक्त यह व्यवसाय अपनी आन्तरिक दिव्यता को अभिव्यक्त करने के लिये 'कर्मयोग की साधना' हेतु सबसे अधिक उपयुक्त है। प्रत्येक शिक्षक को इस मन्त्र का पाठ करना है – "मैं शिक्षक हूँ। मैं कितना महान हूँ ! और मेरे ऊपर राष्ट्र का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है !"

अत: समीकरण इस प्रकार का होगा – A = B, B = C, C = D, अत: D = A। शिक्षक क्रान्ति का अग्रदूत है, समाज का पथ-प्रदर्शक है। यदि भारत सुरक्षित है, तो सम्पूर्ण विश्व को सुरक्षित बचाया जा सकता है। क्योंकि भारत का योगदान आध्यात्मिक संस्कृति है। यदि विश्व को बचाना है, तो भारत को अवश्य ही बचाना होगा। यदि भारत को बचाना है, तो भारत को अपने छात्रों को प्रबुद्ध नागरिक के रूप में तैयार करना होगा और छात्रों को प्रबुद्ध नागरिक के रूप में तैयार करने में शिक्षकों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। जैसा कि नानी-पालकीवाला जी कहते हैं, "प्रबुद्ध नागरिक कारखाने में पैदा नहीं किये जा सकते, इसका निर्माण शिक्षा के द्वारा होता है।" इस प्रकार शिक्षक क्रान्ति का अग्रदूत है, सम्पूर्ण राष्ट्र, सम्पूर्ण विश्व के परिवर्तन का पथ-प्रदर्शक है।

आप सबसे मिलने और अपने विचार रखने हेतु मुझे सुअवसर प्रदान करने के लिये मैं AMA (अहमदाबाद प्रबंधन संस्थान) को धन्यवाद देता हूँ। आइये ! हम सभी स्वामी विवेकानन्द जी के इस शक्तिशाली अग्निमन्त्र को याद करें तथा इसी के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ – "उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।" ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की हिन्दी*

अवधेश प्रधान

बँगला भाषा में श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' द्वारा लिखित 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' में जहाँ-तहाँ ऐसे संकेत मिलते हैं कि श्रीरामकृष्ण हिन्दी जानते थे। वे हिन्दी-भाषी साधु-सन्तों से हिन्दी में बातचीत कर लेते थे, अपनी बँगला बातचीत में भी यथावसर कबीर तथा तुलसी की बानियाँ उद्धृत करते थे। कुछ हिन्दी भजन भी उनको याद थे। प्रश्न उठता है – उनके हिन्दी ज्ञान का स्रोत क्या है? सबसे पहला स्रोत है स्वयं उनका जन्मग्राम कामारपुकुर, जो पुरी-यात्रा के रास्ते में पड़ता था। पुरीधाम जानेवाले साधु-सन्त उनके गाँव में डेरा डालते थे, पहले-पहल उन्होंने उन्हीं के मुँह से हिन्दी सुनी होगी। दूसरे, दक्षिणेश्वर में पश्चिमोत्तर अर्थात् हिन्दी प्रदेश के साधु-संन्यासी आते रहते थे, गंगासागर या पुरी आते-जाते वहाँ रुकते थे, उनके संग-साथ में भी उन्हें हिन्दी जानने-सुनने का सुयोग मिला होगा। तीसरे, उन्होंने मथुरानाथ विश्वास के दल के साथ देवघर, काशी और मथुरा-वृन्दावन की तीर्थयात्रा की थी। इस यात्रा में भी उनका हिन्दीभाषी जनता के साथ सम्पर्क हुआ होगा। इसके अतिरिक्त उनके यहाँ हिन्दीभाषी भक्त तथा जिज्ञासु भी आते-जाते रहते थे। दक्षिणेश्वर आने से पहले वे कुछ दिन कलकत्ते में रहे थे और बाद में भी प्राय: कलकत्ते के भक्तों के घर आयोजनों-उत्सवों में जाते रहते थे। कलकत्ता में बँगलाभाषी भी कोचवान, मल्लाह, पहरेदार, दरवान, नौकर-चाकर आदि के साथ कामकाजी हिन्दी का व्यवहार करते थे। मारवाड़ी, पंजाबी तथा खत्री समाज के लोग वहाँ हिन्दी का ही व्यवहार करते थे और बाजार-व्यापार की भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचलन पहले से था। अस्तु, आइए, बँगला 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' के पृष्ठों में श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से निकली हिन्दी का अनुशीलन करें।

उक्त ग्रन्थ में ४ जून, १८८३ को ठाकुर मणिलाल को लक्ष्य करके कबीर की एक बानी उद्धृत करते हैं – **साकार आमार मा, निराकार आमार बाप। काको निन्दो, काको बंदो, दोनों पाल्ला भारी।।**[१] यही बानी दुबारा आती है, जिसमें **काको बंदो, काको निंदो** के बजाय **कारे निन्दो, कारे बंदो** उद्धृत है।[२] जाहिर है, ठाकुर के उच्चारण में हिन्दी बानी का कुछ बंगलाकरण हो गया है। लेकिन तमाम बँगलाकरण के बावजूद उसका हिन्दी मूल रूप सुरक्षित है, जिसका बिल्कुल सही अनुमान किया जा सकता है। कबीर की यह बानी 'कबीर ग्रंथावली' के किसी प्रामाणिक संस्करण में नहीं मिलेगी। वस्तुत: सन्तों के बीच कबीर, तुलसी के नाम पर ऐसी ढेरों बानियाँ प्रचलित रही हैं और ठाकुर ने वहीं से उनका संग्रह किया है, किसी ग्रन्थ से नहीं। १७ जून, १८८३ को उन्होंने एक तांत्रिक भक्त से 'वही सब हुए हैं' कहकर एक बानी उद्धृत की है – **वही राम घट-घट में लेटा**।[३] इस बानी के रचनाकार का नाम उन्होंने नहीं लिया है, लेकिन जाहिर है, यह भी सन्तों में प्रचलित कोई उक्ति प्रतीत होती है।

२० अक्तूबर, १८८४ को श्रीरामकृष्ण एक मारवाड़ी भक्त के घर आए हैं, गृहस्वामी से कह रहे हैं – अवतार को सब पहचान नहीं पाते। राम को बहुतों ने नहीं जाना कि वे साक्षात् परम ब्रह्म हैं। गृहस्वामी ने कहा – आप ही वह राम हैं, तब ठाकुर ने ऐसा कहने से मना किया और हाथ जोड़कर बोले – **वही राम घट घट में लेटा, वही राम जगत पसेरा!**[४] यहाँ अर्धाली पूरी हो गई।

२२ दिसम्बर, १८८३ को कबीरदास की चर्चा करते हुए ठाकुर कहते हैं – कबीर निराकारवादी थे, शिव, काली, कृष्ण – यह सब नहीं मानते थे। वे कहते थे – **काली चाल कला खान** – यानी काली, चावल-केला खाती हैं। कृष्ण गोपियों की ताली पर बन्दर की तरह नाचते थे।[५] यह बन्दरनाच वाली बात फिर उन्होंने १८ अक्तूबर १८८५ को डॉक्टर महाशय से कही।[६] कबीर का नाम लिए बगैर ठाकुर एक ऐसा वाक्य बोलते हैं – **तिनि जे पिपड़ेर पायेर नूपुर शुनिते पान**[७] – इसे सुनकर कबीर की यह पंक्ति स्मृति में कौंध जाती है – **चीटी के पग नूपुर बाजे वो भी साहब सुनता है।**

तुलसीदास की एक उक्ति उन्होंने दो जगह उद्धृत किया है – एक बार २६ सितम्बर १८८३ को, दूसरी बार १२ अप्रैल १८८५ को। यह उक्ति एक दोहा है –

सत्य वचन, परस्त्री मातृ सामान।
एइ से हरि ना मिले तुलसी झूठ जबान।।[८]

इसका दूसरा पाठ यह है –

सत्य कथा, अधीनता, परस्त्री मातृ समान।
एइ से हरि ना मिले तुलसी झूठ जबान।।[९]

जाहिर है, इस दोहे को भी 'दोहावली' या 'तुलसी-ग्रन्थावली' में ढूँढ़ना उचित न होगा। तुलसी ने प्रेम की अनन्यता के सर्वोच्च आदर्श का दृष्टान्त चातक का दिया है ('दोहावली' में चातक के प्रेम की प्रशंसा में ३५ दोहे मिलते हैं), श्रीरामकृष्ण को इसकी जानकारी थी और उन्हें भी वे प्रिय थे। १६ अक्तूबर १८९३ को मणि मल्लिक से उन्होंने

* उद्धरण बंगला 'कथामृत' (उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता) के प्रथम संस्करण के बाईसवें पुनर्मुद्रण से लिये गए हैं। शब्द के अनुमानित सही रूप को कोष्ठक () से घेर दिया गया है – लेखक।

कहा – जरा तुलसीदास की वह बात बताओ तो। मणि मल्लिक बताते हैं – चातक, प्यास से छाती फटी जाती है; गंगा, यमुना, सरयू और न जाने कितनी नदियाँ और तालाब हैं, मगर और किसी का जल नहीं पीयेगा। केवल स्वाति नक्षत्र की वृष्टि के जल के लिए मुँह खोले रहता है। तुलसीदास की एक और बात है – अष्टधातु पारसमणि छूते ही सोना हो जाती है। उसी तरह सब जाति – चमार, चांडाल, तक हरिनाम करने से शुद्ध हो जाते हैं – **बिना हरि नाम सब जात चमार**।[१०] श्रीरामकृष्ण इसे अर्थाते हुए कहते हैं – "अर्थात् तार पादपद्मे भक्तिइ सार, आर सब मिथ्या।" १२ अप्रैल १८८५ को बलराम बसु के घर पर त्रैलोक्य आदि भक्तों से बात करते हुए वे एक बार फिर चातक का दृष्टान्त दुहराते हैं और अन्त में एक हिन्दी बानी उद्धृत करते हैं – **बिना स्वाती की (के) जल सब धूर**।[११]

'कथामृत' में एक हिन्दी भजन का भी उल्लेख है। पूर्वोक्त मारवाड़ी के घर वे तकिए की टेक लिए लेटे-लेटे गा रहे हैं –

हरि से लागि रहो रे भाई।
तेरा बनत बनत बनि जाई।।
तेरा (तेरी) बिगड़ी बात बनि जाई।।
अंका तारे, बंका तारे, तारे सुजन (सदन) कसाई।
सुगा पढ़ाय के गनिका तारे, तारे मीराबाई।।[१२]*

यही एकमात्र हिन्दी भजन है, जिसे श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने श्रीमुख से गाया है।** एक गजल भी है, जो ठाकुर को बड़ा प्रिय था। जब ठाकुर रोगग्रस्त होकर काशीपुर उद्यान में अवस्थान कर रहे थे तब सिंध के मूलवासी उनके भक्त और स्वामी विवेकानन्द के सहपाठी हीरानन्द उनसे मिलने आए। उनकी उपस्थिति में स्वामीजी ने २२ अप्रैल १८८६ को ठाकुर को यह गजल गाकर सुनाया था –

तुझसे हमने दिल को लगाया,
जो कुछ है सो तू ही है।
एक तुझको अपना पाया,
जो कुछ है सो तू ही है।।
दिल का मकाँ, सबकी (का) मकीं तू,
कौन-सा दिल है जिस में नहीं तू।
हर एक दिल में तू ही समाया,
जो कुछ है सो तू ही है।।
क्या मलायक क्या इनसान,
क्या हिन्दू, क्या मुसलमान।
जैसा चाहा तू ने बनाया,
जो कुछ है सो तू ही है।।
काबा में क्या और दैर में क्या,
तेरी परस्तिश हैगी सब जा
आगे तेरे सिर सभों ने झुकाया,
जो कुछ है सो तू ही है।।
अर्श से ले (के) फर्श जमीं तक,
और जमीं से अर्श बरीं तक।
जहाँ मैं देखा तू ही नजर में आया,
जो कुछ है सो तू ही है।।
सोचा-समझा देखा-भाला,
तू जैसा न कोई ढूंढ निकाला।
अब ये समझ में 'जफर' की आया,
जो कुछ है सो तू ही है।।

'हर एक दिल में' – यह टुकड़ा सुनकर ठाकुर ने इशारे से कहा कि वे प्रत्येक के हृदय में हैं, वे अन्तर्यामी हैं। 'जहाँ मैं देखा तू ही नजर में आया, जो कुछ है सो तू ही है' – यह सुनकर हीरानन्द नरेन्द्र से बोले – सब तू ही है, इस समय 'तूँ हूँ तूँ हूँ।' मैं नहीं, तुम![१३] 'कथामृत' में इस गजल का उल्लेख पहले-पहल ११ मार्च १८८५ को हुआ है।[१४] फिर १३ जून १८८५ को त्रैलोक्य ने इसे गाकर सुनाया।[१५] इसके अन्त में तखल्लुस या उपनाम है 'जफर' का। लगता है, यह रचना बहादुर शाह 'जफर' की न होकर कलकत्ता या किसी और शहर के किसी अन्य 'जफर' नाम के शायर की है। यह १८८५ तक इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी। इसे काशीपुर उद्यान में स्वयं नरेन्द्र (स्वामीजी) ने ठाकुर को

---

* 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' (हिन्दी, ११वाँ संस्करण, पृ.३७२)पर इसके आगे के पद इस प्रकार उद्धृत है –

दौलत दुनिया माल खजाना बनिया बैल चलाई।
एक बात का टंटा पड़े तो खोज खबर नहीं पाई।।
ऐसी भक्ति कर घट भीतर छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बन्दी और अधीनता सहज मिले रघुराई।।

** हिन्दी का एक अन्य भजन सम्भवत: श्रीरामकृष्ण ने ही स्वामीजी को सिखाया था। बँगला ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण-पुँथी' (सं. २००७, पृ. ६२४-५) पर स्वामीजी तानपुरे के साथ समवेत स्वर में गाते हैं –

सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई।
भज ले अयोध्यानाथ दूसरो न कोई।।
हसन बोलन चतुर चाल अयन बयन दृग्-विशाल।
भृकुटि-कुटिल तिलक-भाल नासिका सोहाई।।
मोतिन को कण्ठमाल, तारागण उर विशाल।
श्रवण-कुण्डल झलमलात रतिपति छबि छाई।।
सखा सहित सरयुतीर बिहरे रघुवंशबीर।
तुलसीदास हरष निरखि चरणरज पाई।।

यह भजन लगभग एक घण्टा चला था। श्रीरामकृष्ण अस्वस्थ थे और अपने कमरे में लेटे हुए सुन रहे थे। बाद में जब नरेन्द्रनाथ उनसे मिलने गये, तो उन्होंने बताया कि इस भजन में एक कड़ी और भी है। एक भक्त ने सुनकर तत्काल लिख लिया था –

केसर को तिलक भाल मानो रवि प्रातकाल।
श्रवण-कुण्डल झलमलात रतिपति छबि छाई।।

सुनाया। यह 'जफर' कौन हैं, अब तक अज्ञात है। ३१ अक्टूबर १८८५ को भावावस्था में ठाकुर अपने श्रीचरण डॉक्टर महाशय की गोद में रख देते हैं। भाव-संवरण होने के बाद एक हिन्दी बानी बोलते हैं – **''सन्त वही है जो राम रस चाखे।''** फिर कहते हैं – विषय में क्या रखा है, पैसा-कौड़ी, मान, शरीर-सुख – उसमें क्या है? इसके बाद फिर एक हिन्दी बानी – **''राम को जो चीन्हा नाहीं दिल चीन्हा है सो क्या रे।''**[१६] यह किसी-न-किसी भजन का टुकड़ा मालूम होता है।

ठाकुर ने हिन्दी में कहावतें भी सुन रखी थीं। 'कथामृत' में २१ जुलाई १८८३ को सत्य कथन की प्रशंसा में ऐसी ही एक कहावत दुहराते हैं – **पुरुष की बात हाथी की (का) दांत**।[१७] ७ सितम्बर १८८३ को ठाकुर मास्टर साहब से गुह्य आध्यात्मिक वार्तालाप के बीच 'अचिने गाछ' (अनचीन्हा वृक्ष) का उल्लेख करते हैं – अचिने गाछ सुनेछो? मास्टर – जी नहीं। ठाकुर बताते हैं – यह एक प्रकार का वृक्ष है, उसको कोई देखकर पहचान नहीं पाता। मास्टर मन-ही-मन सोचते हैं, इसी का नाम अवतार है क्या?[१८] जायसी ने शायद इसी को 'पद्मावत' में अजान बीरो (अज्ञान वीरुथ) कहा है। शिव-पूजा को निकली पद्मावती के साथ उसकी सखियाँ बसन्त-विहार कर रही हैं। कोई किसी फूल-पौधे के पास जाती हैं, तो कोई किसी लता-गुल्म के पास। उनमें से एक सखी 'अजान वीरो' के नीचे जाकर सुध-बुध खो बैठी है – **कोउ अजान बीरो तर भूली!** संसार में अध्यात्म की छाया झलकाने वाली सूफी शैली में जायसी ने 'अचिने गाछ' जैसा ही संकेत दिया है।

श्रीरामकृष्ण के वेदान्त गुरु तोतापुरी हिन्दी भाषी थे। वे ठाकुर से अपनी बातें हिन्दी में ही कहते होंगे। संध्या बेला में जब ठाकुर तालियाँ बजा-बजाकर हरिनाम करते, तो तोतापुरीजी, जिन्हें ठाकुर न्यांगटा कहते थे, उपहास करते हुए कहते – रोटी क्या ठोक रहे हो? वेदान्त की दीक्षा के बावजूद ठाकुर भक्ति के आवेश में 'माँ माँ' कहते हुए पुकारते तो ''न्यांगटा काँदतो-बोलतो, अरे क्या रे!''[१९] स्वामी दयानन्द से उनकी बातचीत हिन्दी में ही हुई होगी। नारायण शास्त्री पंडित राजस्थान के मूलवासी थे, वे भी ठाकुर से हिन्दी में बोलते थे। ३ जुलाई १८८४ को ठाकुर मास्टर महाशय से बतलाते हैं कि नारायण पंडित वशिष्ठाश्रम में जाकर तपस्या करने की इच्छा जाहिर करते, तो ठाकुर मना करते। तब नारायण पंडित कहते – किसी दिन मर जाऊँगा, साधन कब करूँगा, ''डुबकी कब फट जाएगा!'' इसी प्रकार २१ सितम्बर १८८४ को ठाकुर बतलाते हैं कि जब मेरी उन्माद अवस्था थी, तो मुझे देखकर नारायण पंडित ने लोगों से कहा था – ''वह उन्मत्त है!''[२१] ठाकुर के नेपाली गृही भक्त कप्तान यानी विश्वनाथ उपाध्याय हिन्दी बोलते थे। वे एक दिन हाजरा की प्रशंसा कर रहे थे और राखाल आदि की निन्दा। ठाकुर ने हाजरा के बारे में कहा – जप-तप करता है, लेकिन बीच-बीच में दलाली भी करता है, तब कप्तान ने कहा, ''हाँ, ताओ बात ठीक है।'' एक और बात पर वे बोले, ''हाँ, हाँ, ठीक है।''[२२] ठाकुर ने जहाज के पंक्षी की और स्वाती नक्षत्र – मुर्दे की खोपड़ी-मेंढक-साँप वाली कहानी सुनाई, तो कप्तान बोले, ''अहा! क्या दृष्टान्त!''[२३] कप्तान के घर में भी हिन्दी बोली जाती थी। 'कथामृत' में २५ मई १८८४ को ठाकुर बता रहे हैं कि कप्तान से गाड़ी भाड़ा माँगा, तो उसने अपनी पत्नी से कहा। उसकी पत्नी ''क्या हुआ, क्या हुआ'' – करने लगी ''से माग ओ तेमनि – 'क्या हुआ, क्या हुआ' कोरते लागलो।''[२४]

ठाकुर ने दक्षिणेश्वर में तरह-तरह के साधुओं को देखा-सुना था। उनमें हिन्दी प्रदेश के साधु भी थे। उन्हीं में रामायत सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध जटाधारी भी थे, जिनसे दीक्षा लेकर ठाकुर ने वात्सल्य-भाव की साधना की थी। सच्चे साधुओं के अलावा पाखंडी साधुओं को भी उन्होंने देखा था। २६ नवम्बर १८८३ को ठाकुर बता रहे हैं – जिस साधु के पास बहुत गठरी-मोटरी हो उस पर विश्वास मत करना। मैंने बरगद के नीचे कई तरह के साधु देखे हैं – कोई दाल बीन रहा है, कोई कपड़ा सी रहा है और किसी बड़े आदमी के भण्डारे की बात बता रहा है, 'आरे ओ बाबू ने लाखो रुपेया खरच किया, साधू लोक को बहुत खिलाया – पूरी, जलेबी, पेड़ा, बरफी, मालपूआ – बहुत चीज तैयार किया।''[२५] सुरेन्द्र बाबू के बगान में एक साधु खाट पर बैठे हैं, उन्हें देखते ही ठाकुर उनके पास पहुँचकर आनन्दपूर्वक हिन्दी में बात कर रहे हैं – ''आनंदे तांहार सहित हिंदी ते कथा कहितेछेन'' (२६ दिसम्बर १८८३)।[२६] वही साधु ३० दिसम्बर को ठाकुर के दर्शन करने दक्षिणेश्वर आए। ठाकुर ने उन्हें अपने पास छोटे तख्त पर बैठाया। बातचीत हिन्दी में होने लगी – ''कथावार्ता हिन्दी में हइते छे।'' ठाकुर की बातचीत की हिन्दी की छौंक! 'कथामृत' की बँगला में भी आ गई है – ''आच्छा जी, ब्रह्म कि रूप?'' साधु हिन्दी में बोले – ''वाच्य ओइ (वही) है, वाचक ओइ (वही) है।'' ठाकुर को समाधि हो गई तो केदार बाबू ने साधु से कहा, ''एइ देखो जी, इसको समाधि बोलता है।'' समाधि के बाद ठाकुर बोले, ''अब सोऽहम् उड़ाय देओ। अब हम तुम – विलास!''[२७] साधु को लेकर काली का दर्शन किया; साधु ने भी ब्रह्मवादी होने के बावजूद काली को प्रणाम किया। ठाकुर ने पूछा, ''केमन जी, दर्शन?'' साधु ने कहा, ''काली प्रधान है।''[२८]

पंचवटी में एक हठयोगी साधु आये थे। वे अफीम खाते

थे, उसके लिए पैसे के जुगाड़ की चिन्ता थी। चाहते थे कि ठाकुर अपने कलकतिया भक्तों से कुछ देने को कह देते। जब ५ अप्रैल १८८४ को ठाकुर प्राणकृष्ण आदि से बातें कर रहे थे, वे हठयोगी कमरे में आए और बोले, "आप राखाल से क्या बोला था।" ठाकुर बोले – "हाँ, कहा था, देखूँगा अगर कोई बाबू कुछ दे दे।"[२९] पंचवटी में एक बार एक क्रोधी साधु आये। एक दिन खड़ाऊँ पहने आये और कहा, "हियाँ आग मिलेगा?"[३०] ५ अक्टूबर १८८४ को दो अतिथि साधुओं का उल्लेख है, जो गीता वेदान्त आदि का अध्ययन करते हैं और ठाकुर का दर्शन करने आये हैं। ठाकुर उनसे हिन्दी में बात कर रहे हैं – "ठाकुर हिन्दी ते कथा कहितेछेन।" जब ठाकुर भावस्थ हो गए हैं, अपने आपसे बात कर रहे हैं, हँस रहे हैं, तो यह सब देखकर एक साधु दूसरे साधु से फुसफुसा कर कह रहे हैं, "अरे, देखो, देखो, एसको (इसको) परमहंस अवस्था बोलता है।"[३१] २० अक्तूबर १८८४ को बड़ा बाजार में मारवाड़ी भक्त के घर ठाकुर ने 'पंडितजी' से हिन्दी में बातचीत की। "पंडितजी हिन्दीते बराबर कथा कहितेछेन। ठाकुरओ तांहार सहित अति मधुर हिन्दीते कथा कहितेछेन।"[३२] उनकी हिन्दी में बँगला का पुट भी जहाँ-तहाँ दिख जाता है। एक साधु की कहानी वे बँगला में सुना रहे हैं, लेकिन साधु का संवाद हिन्दी में बोलते हैं – "ऐसा होने शकता" या फिर "ओ भी होने शकता है।[३३] कलकत्ते में नौकरी करनेवाले लोगों के किराये के कमरे को 'बासा' कहते हैं। २७ मई १८८३ को ठाकुर कीर्तनिया गोस्वामी से बोले – "साधु बासा पाकड़ लिया।"[३४] कौन कैसे उच्चारण करता है, ठाकुर इस पर ध्यान देते थे। वे कहते थे – दयानन्द बँगला को 'गौड़ाण्ड भाषा' कहता था।[३५] ठाकुर को पता था कि आफिसों में साहब लोग रौब झाड़ने के लिए खड़ी बोली में बोलते हैं। अधर सेन से कहा, साहब पूछे तो – "ये क्या हैं।"[३६] ठाकुर ने साधुओं को तो देखा-सुना ही था, आये हुए भक्तों से भी बाहर के साधुओं का हाल पूछते थे। २८ मई १८८४ को उन्होंने नरेन्द्र बन्द्योपाध्याय से कहा – "तुम तो भ्रमण करते रहते हो, साधुओं की कुछ बात बताओ।" उन्होंने भूटान में दो योगियों को देखा था, जो आधा सेर नीम का रस पीते थे। नर्मदा के किनारे एक साधु के आश्रम में गए थे। उस आश्रम के साधु ने पतलूनधारी बंगाली बाबू को देखकर हिन्दी में कहा था – "इसका (इसके) पेट में छुरी है।"[३७]

'कथामृत' में २४ अप्रैल १८८५ को संध्या बेला में ठाकुर बलराम बोस के घर से गिरीश बाबू के घर की ओर जा रहे हैं, रास्ते में एक 'हिन्दुस्तानी' भिखारी गा रहा है।[३८] राम नाम सुनकर ठाकुर खड़े हो गए। देखते-देखते उनका मन अन्तर्मुख हो गया। इसी भाव में कुछ देर खड़े रहे, मास्टर से कहा, अच्छा सुर है (बेश सुर)।[३९] हिन्दुस्तानी यानी हिन्दी प्रदेश का। स्वामी दयानन्द, नारायण पंडित, तोतापुरी महाराज से लेकर इस भिखारी तक जाने कितने स्रोतों से निकलकर हिन्दी बानी ठाकुर के कानों और प्राणों में पहुँच रही थी। उनके इर्द-गिर्द बोली जाने और सुनाई देने वाली हिन्दी में जिस प्रकार स्वरों और शैलियों की विविधता है, उसी प्रकार उनके मुखारविन्द से स्रवित होनवाली हिन्दी में भी है। कहीं अध्यात्म और भक्ति की गहराई, कहीं भजनों की भाव-भरी तन्मयता, तो कहीं हल्की-फुल्की बातचीत और हास्य के छींटे !

❑❑❑

सन्दर्भ-सूची –

१. 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत', उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता, प्रथम संस्करण, बाईसवाँ पुनर्मुद्रण, पृ.२००; २. वही, पृ.४९४; ३. वही, पृ.२२२; ४. वही, पृ. ६७५; ५. वही, पृ. ३४५; ६. वही, पृ. ९२२; ७. वही, पृ. ९९३; ८. वही, पृ. २७८; ९. वही, पृ. ७९९; १०. वही, पृ. २९३; ११. वही, पृ. ८०८; १२. वही, पृ. ६७४; १३. वही, पृ. १०५४; १४. वही, पृ. ७७६; १५. वही, पृ. ८५३; १६. वही, पृ. १००२; १७, वही, पृ.२३८; १८. वही, पृ. २६१; १९. वही, पृ. ८३४; २०. वही, पृ. ४९७; २१. वही, पृ. ५६६; २२. वही, पृ. ८४१; २३. वही, पृ. ८५१-५२; २४. वही, पृ. ४४०-१; २५. वही, पृ. ३००; २६. वही, पृ. ३५९; २७. वही, पृ. ३६६-६७; २८. वही, पृ. ३६८; २९. वही, पृ. ४१६; ३०. वही, पृ. ५९३; ३१. वही, पृ. ६२२; ३२. वही, पृ. ६७३; ३३. वही, पृ. ५६५; ३४. वही, पृ. १९०; ३५. वही, पृ. ३१०; ३६. वही, पृ. ६५४; ३७. वही, पृ. ४३१; ३८. वही, पृ. ८१३; ३९. वही, पृ. ८१३;
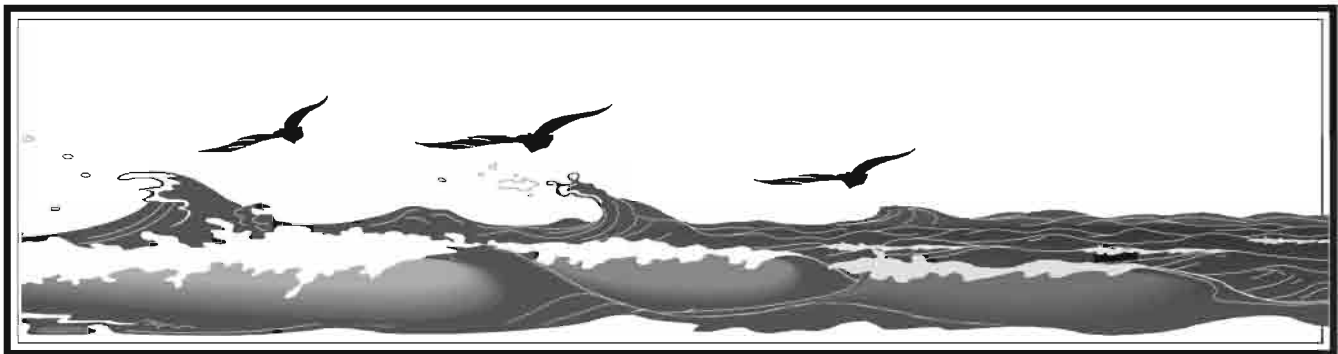
गीतोक्त कर्म से सिद्धि और सफलता

डॉ. प्रभुनारायण मिश्र

अर्जुन युद्ध भूमि से पलायन करना चाहते हैं। भागने के पक्ष में वे अनेक तर्क देते हैं ! इस युद्ध का प्रतीकात्मक अर्थ लिया जा सकता है। सम्पूर्ण जीवन ही एक प्रकार का युद्ध है, जो दो स्तरों पर लड़ा जाता है – बाहर की परिस्थितियों के साथ और अन्दर की अपनी ही वृत्तियों के साथ। अर्जुन सामने उपस्थित कर्तव्य-कर्म से भागना चाहते हैं। परन्तु क्या सचमुच कर्म से पलायन सम्भव है। गीता कहती है कि कर्म से भागा ही नहीं जा सकता; क्योंकि अगर मनुष्य भाग रहा है, तो इस प्रकार वह भागने का कर्म कर रहा है और लड़ रहा है, तो लड़ने का कर्म रहा है। खाना, पीना, उठना, बैठना, सोना, जागना – सब कर्म ही तो हैं। कर्म का करना तभी बन्द होता है, जब जीवन समाप्त हो जाये। जीवित मनुष्य का एक भी क्षण कर्म के बिना व्यतीत नहीं होता – **न हि कश्चित् क्षणम् अपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्**। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म अपरिहार्य है।

इस स्थिति में व्यक्ति के सामने मात्र दो विकल्प बचते हैं – कर्म का चुनाव करना और कर्म के प्रति अपना दृष्टिकोण परिमार्जित करना। कभी-कभी कर्म का चुनाव करना भी अपने वश में नहीं रहता। उदाहरणार्थ, यदि किसी जंगल में एक शेर किसी व्यक्ति पर हमला कर दे, तो उस व्यक्ति के पास दो ही विकल्प बचते हैं – लड़ना या भागना। यदि व्यक्ति ऐसे स्थान पर है, जहाँ से भागा ही नहीं जा सकता, तो मनुष्य को लड़ना ही पड़ता है। विकल्प-शून्यता की स्थिति जीवन में आती ही रहती है। इसलिए कर्म तथा कर्म फल के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करना ही उचित है। श्रीमद्-भगवद्-गीता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।
मा कर्मफल हेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

गीता का यह श्लोक सर्वाधिक उद्धृत किये जाने श्लोकों में से एक है, परन्तु इसकी सही-सही समझ बहुत कम ही लोगों में है। इस श्लोक का निकटतम हिन्दी अनुवाद होगा – ''कर्म पर तुम्हारा अधिकार हो सकता है, फल पर कदापि नहीं। कर्मफल हेतु कर्म मत करो; और अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।''

श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि कर्म पर तुम्हारा अधिकार है ही, वे कहते हैं कि कर्म पर तुम्हारा अधिकार हो सकता है। इस बात को थोड़ा गहराई से समझने की आवश्यकता है। विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान का विकास चाहे जितना भी क्यों न हो जाय, परन्तु अन्ततः कर्म करने के दो ही प्रमुख उपकरण अपने पास होते हैं। वे हैं – शरीर और मन। मन की चंचलता और इसे नियंत्रण में रखने की कठिनाई से सभी लोग सुपरिचित हैं। अर्जुन भी श्रीकृष्ण से कहते हैं कि मन बड़ा ही चंचल एवं बलवान है। इसे वश में रखना वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर है। श्रीकृष्ण अर्जुन की इस बात को स्वीकार करते हैं और कहते हैं – **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्**। निश्चित रूप से मन चंचल और कठिनाई से वश में आनेवाला है, परन्तु वे अर्जुन का उत्साह-वर्धन करते हुए कहते हैं कि मन को अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वश में आ सकता है – **अभ्यासेन तु कौन्तय वैराग्येण च गृह्यते**।

अतः सार रूप में हम कह सकते हैं कि कार्य करने के प्रमुख उपकरण – मन पर प्रायः लोगों का नियंत्रण नहीं रहता। अब जरा शरीर पर ध्यान लायें। मन-तो-मन है, परन्तु व्यक्ति का शरीर भी अपने नियंत्रण में नहीं है। हृदय, मस्तिष्क, गुर्दा आदि शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग हमारी अनुमति के बिना ही कार्य करते हैं। कोई नहीं जानता कि ये कब कार्य करना बन्द कर देंगे। शरीर एक सर्वाधिक जटिल यंत्र है। यह समय के साथ क्षरित तो होता ही रहता है, कभी-कभी अचानक कार्य करना भी बन्द कर देता है। एक गणना के अनुसार शरीर के ठीक-ठीक कार्य करते रहने की सम्भाव्यता तीन अरब में मात्र एक है। इतनी कम सम्भाव्यता पर शरीर का लगभग ठीक-ठीक कार्य करते रहना एक आश्चर्य की बात है और इसका पूर्ण स्वस्थ रहना सचमुच ही चमत्कार है। हम कोई भी कार्य करने की स्थिति में तभी होते हैं, जब हमारा शरीर और मन दोनों सामान्य रूप से ठीक-ठाक हों। यदि मन ठीक नहीं, तो हम कार्य नहीं कर सकते हैं; यदि मन ठीक है, परन्तु शरीर बीमार है, तो भी हम कार्य नहीं कर सकते। अतः कर्म पर हमारा अधिकार निश्चित रूप से नहीं है। हम कर्म तभी कर सकते हैं, जब हमें शरीर और मन का सहयोग प्राप्त हो। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म पर तुम्हारा अधिकार हो सकता है।

अतः कर्म पर तुम्हारा अधिकार है ही – यह मान्यता भ्रामक है। परन्तु साथ ही श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि कर्म-फल पर तो तुम्हारा अधिकार कदापि नहीं है। – क्यों? यदि हमने कर्म किया है, तो उसका फल मिलना ही चाहिए। कर्म -सिद्धान्त के अनुसार हर कर्म अपना फल देता है। कर्म कर्ता को ही फल देता है। कर्मों के गणित में निरस्तीकण का नियम नहीं है; उदाहरणार्थ यदि आपने दस अच्छे और

दस खराब कर्म किए हैं, तो कर्मफल शून्य नहीं होगा। दस अच्छे कर्मों का दस अच्छा फल मिलेगा और दस खराब कर्मों का दस खराब फल अवश्य मिलेगा। परन्तु इन कर्मों का फल कब प्राप्त होगा, फल का स्वरूप क्या होगा – यह एक बहुत बड़ा रहस्य है। कर्मों की गति सचमुच बड़ी गहन है। श्रीकृष्ण कहते हैं – **गहना कर्मणो गतिः** ।

यदि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हर कर्म का फल होता ही, तो फिर श्रीकृष्ण यह क्यों कहते हैं कि फल पर तुम्हारा अधिकार कदापि नहीं हैं। ध्यान रखिए सृष्टि में कर्म करनेवाले आप अकेले नहीं हैं। सम्पूर्ण सृष्टि तथा इसके सारे प्राणी निरन्तर कुछ-न-कुछ कर्म कर रहे हैं। कर्मफल इन सारे कर्मों के समष्टि प्रभाव से निर्धारित होता है। यदि किसी वस्तु पर कई लोग कई दिशाओं से बल लगा रहे हों, तो वह वस्तु किसी एक बल विशेष की दिशा में विस्थापित नहीं होगी, बल्कि वह सारे बलों के परिणामी की दिशा में जाएगी। फल -निर्धारण में आपके द्वारा किए गए कर्म का योगदान रहता है, परन्तु मात्र आपके द्वारा किया गया कर्म ही फल को पूर्णत: निर्धारित नहीं करता। अन्य कर्मों की भी भूमिका होती है। जैसे किसी प्रतियोगिता में प्रथम स्थान पर कौन होगा – इसका निर्धारण प्रथम स्थान पानेवाला प्रतियोगी ही नहीं करता, अपितु सारे प्रतियोगियों का सम्मिलित प्रयास इसका निर्धारण करता है। इस कारण जहाँ कर्म-सिद्धान्त अटल है, वहीं श्रीकृष्ण का यह कथन कि फल पर आपका अधिकार नहीं है, पूर्ण सत्य है। यदि हमें सफल होना है, तो हमें अपना ध्यान फल पर नहीं, अपितु कर्म की कुशलता या परिपूर्णता पर रखना होगा। यदि हम फल पर ही मन को टिकाए रहेंगे, तो इसके दो नुकसान होंगे – कर्म उत्तम प्रकार का नहीं होगा और फल न मिलने की स्थिति में कुण्ठा तथा विषाद उत्पन्न होगा। अत: श्रीकृष्ण कहते हैं – कर्मफल के हेतु से कर्म न करो। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म का फल तो मिलना ही है – वह आप चाहें या न चाहें।

कर्मफल हेतु कर्म न करने से, फल न मिलने से उत्पन्न होने वाली कुण्ठा, हताशा और विषाद-ग्रस्तता जैसी मनो-वैज्ञानिक समस्याएँ स्वत: ही समाप्त हो जाती हैं।

श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि अकर्म में आपकी रुचि न हो, अर्थात् आप अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद आदि से मुक्त रहें। अब आप ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिये, जो निरन्तर कर्म में लगा है, परन्तु फल की आशा से मुक्त है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उस व्यक्ति को कर्म का फल तो प्राप्त होगा ही, कदाचित् यदि फल उसकी मर्जी का न हुआ, तो वह कुण्ठित, निराश और हताश नहीं होगा। इसलिए फल की आकांक्षा का परित्याग तथा निरन्तर क्रियाशील रहना ही अति उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक स्थिति है। यह स्थिति प्राप्त करना कठिन है, पर असम्भव नहीं। स्मरण रखें – जीवन की सारी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ कठिनाई से ही प्राप्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहता है।

यहाँ यह दार्शनिक प्रश्न नहीं उठाया जा रहा है कि जीवन में शान्ति और प्रसन्नता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं या सफलता। गीता में शान्ति और प्रसन्नता को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह आवश्यक नहीं कि सफलता शान्ति और प्रसन्नता प्रदान करे ही; परन्तु यह भी निर्विवाद है कि अशान्त व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता – **अशान्तस्य कुतः सुखम्**। गीता में शान्ति प्राप्त करने के अनेक सरल उपायों का वर्णन है।

सफलता निर्धारित करनेवाले तत्त्व तथा सफलता के प्रति उचित दृष्टिकोण भी गीता के विवेच्य विषयों में शामिल हैं। सफलता तो सभी चाहते हैं, परन्तु सभी सफल नहीं होते। अत: सफलता के प्रति उचित तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण का विकास परम आवश्यक है। गीता में कर्मसिद्धि और सफलता के पाँच कारण बताए गए हैं। कर्म करने का क्षेत्र, कर्म करने वाला, कर्म करने का साधन तथा अनेक प्रकार के प्रयत्न तथा चेष्टाएँ – ये कर्मसिद्धि के चार कारण हैं। यदि हम गलत क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, तो हमारी सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। अत: सफलता के आकांक्षी को क्षेत्र का चुनाव बहुत सोच-विचार कर करना चाहिए। यदि कर्म करनेवाला पूरे मनोयोग से कार्य नहीं कर रहा है, तो भी परिणाम अनुकूल होना प्राय: सम्भव नहीं होता। सफलता – कर्ता पर भी निर्भर करती है। कर्ता की एकाग्रता, उसका समर्पण तथा कर्म का वेग परिणाम को प्रभावित करता है। कर्ता द्वारा प्रयोग में लाए जानेवाले साधनों की महत्ता स्पष्ट है। यदि आज के कम्प्यूटर युग में हम बाबा आदम के जमाने के संसाधन प्रयोग में लायेंगे, तो स्पष्ट रूप से औरों से पीछे रह जायेंगे। अत: साधन भी कर्म, देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार होना चाहिए। सब कुछ होते हुए भी यदि चेष्टाएँ न की जाएँ, तो परिणाम आ ही नहीं सकता है। सफलता के लिए चेष्टा आवश्यक है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि व्यक्ति ने सारी सम्भव चेष्टाएँ की, परन्तु सफलता उसे मुँह चिढ़ाती दूर खड़ी रहती है; क्योंकि सफलता में दैवी विधान की भी भूमिका होती है। यह दैवी विधान ही सफलता का पाँचवा कारण है – **दैवं चैवात्र पंचमम्।**

ईश्वर, दैव, भाग्य, प्रारब्ध, योग – इसे हम चाहे जो भी कह लें, परन्तु कोई एक ऐसी अदृश्य शक्ति अवश्य है, जिसकी भूमिका हमारे जीवन में होती है। कभी-कभी हम बहुत हाथ-पाँव मारते हैं, परन्तु कुछ नहीं पाते और कभी बिना चेष्टा के ही हमारे कार्य सफल हो जाते हैं। जब पाँचवाँ कारण अनुकूल रहता है, तो सफलता अल्प प्रयत्न से ही मिल जाती है, अन्यथा हमारे प्रयत्न निष्फल होते रहते हैं।

सफलता-असफलता का चक्र जीवन में चलता रहता है। गीता इसके प्रति हमें सम्यक् दृष्टि प्रदान करती है। **हमें सम्पूर्ण चेष्टाएँ – पूरा प्रयत्न करना चाहिए; और उसके बाद कर्मफल के रूप में जो भी प्राप्त होता है, उसे प्रसाद समझ कर ग्रहण करना चाहिए।** जिसे प्राप्त करने में प्रसन्नता का अनुभव हो, उसे प्रसाद कहते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि हम फिर प्रयत्न ही नहीं करेंगे; या फिर यदि कर्म में त्रुटि रह गई है तो उसका सुधार नहीं करेंगे। प्रसन्नता एवं निर्लिप्तता के साथ कर्मठता गीता के दर्शन में समाहित है। यदि हम दुखी तथा कुण्ठित मन के साथ चेष्टा करते हैं, तो हमारी कर्म-यात्रा अशान्ति भरी होती है। इसके विपरीत यदि हम प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न करते हैं, तो मंजिल न मिलने पर भी यात्रा सुखद होती है। अशान्ति के साथ प्रयत्न करने पर मंजिल प्राप्त होने की स्थिति में भी, यात्रा तो अशान्ति और दु:खभरी ही होती है। अत: हमें प्रसन्नतापूर्वक पूरा प्रयत्न करना चाहिए। अपनी कोशिश पूरी हो जाने पर तुरन्त तटस्थ हो जाना चाहिए और परमात्मा हमें जो भी फल दें, उसे कृतज्ञता के भाव से प्रसाद रूप में स्वीकार करना चाहिए।

माँ की महिमा अपरम्पार

अनोखी लाल कोठारी

अनकही उम्मीदों का नाम है माँ।
बेपनाह बुनियादों का नाम है माँ ।।

इस जगत् में माँ का स्थान सबसे ऊँचा है। वेदों में माँ पूज्या, स्तुति-योग्या, आह्वान-योग्या हैं। माँ, महात्मा और परमात्मा – इन तीनों का जीवन में बड़ा महत्त्व है। माँ शब्द में 'मा' है, महात्मा में 'मा' है और परमात्मा में भी 'मा' शब्द आता है। बचपन बिगड़ता है, तो माँ सँभालती है; जवानी बिगड़ती है, तो महात्मा सँभालते हैं और बुढ़ापा बिगड़ने पर परमात्मा सँभालता है। जीवन से इस माँ को निकाल दें, तो कुछ भी नहीं बचता है। 'माँ' एक पूर्ण शब्द है – सम्पूर्ण ग्रन्थ और शब्दकोष है। माँ एक महा-विद्यालय है।

माँ का प्यार सागर से गहरा और हिमालय से ऊँचा है। माँ के आँचल में जन्नत है। माँ ममता की देवी है, जो खुद गीले में सोकर बच्चे को सूखे में सुलाती है। बच्चे को सुलाने के लिये रात-रात भर जागती है। यदि मस्तक पर लगाना हो, तो ऐसी माँ की चरण-धूलि किसी मन्दिर के चन्दन से कम पवित्र नहीं होती।

मन की मुरादों का नाम है – 'माँ'। माँ का नाम लेते ही अति सुखद अनुभूति होती है। प्रेम उमड़ने लग जाता है। पलकें भीग जाती हैं। वह माँ ही है, जो पुत्र को अपलक निहारती जाती है और वात्सल्य-वशात् उसका आँचल दुग्ध से सिक्त हो जाता है –

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकन-तत्परा।
स्नेह प्रसव निर्मिन्नमुद् वहन्तीस्तनां शुकम् ।।
(कालिदास, विक्रमोर्वशीयम्, ५/१२)

दुनिया में जब व्यक्ति जन्म लेता है, तो उसका सबसे पहला रिश्ता माँ से जुड़ता है। माँ का प्यार दुनिया के अन्य सभी के प्यार से नौ महीने बड़ा होता है। दुनिया के सभी रिश्ते जन्म लेने के बाद मिलते हैं, लेकिन माँ का रिश्ता तो जन्म से भी पहले – गर्भ से ही जुड़ जाता है। अवतारी पुरुष, महापुरुष, तीर्थंकर जैसी आत्माएँ भी बिना माँ के धरती पर नहीं आ सकतीं। माँ बचपन से अंगुली पकड़कर चलना सिखाती है, अपने हाथों से खाना खिलाती है, पढ़ना-लिखना तथा बोलना सिखाती है। माँ वह है, जो बचपन से हमारे गन्दे कपड़ों को धोती है, हमें नहलाती है, पुचकारती है; जरूरत पड़ी तो डाँटती और मारती भी है। वे गाल अभागे हैं, जिन पर माँ की चपत न लगी हो। माँ के द्वारा पुचकारना भी माँ का प्यार है और माँ का मारना भी प्यार है।

जिस माँ ने हमारा पूरा जीवन बनाया है, उस माँ का बुढ़ापा कभी नहीं बिगाड़ना। पत्नी, दोस्त, रिश्तेदार चुनने से मिल सकते हैं, पर माँ चुनने से नहीं, पुण्य से मिलती है। दुनिया में हर चीज का चुनाव हो सकता है, पर माँ-बाप का कोई चुनाव नहीं हो सकता है। माँ-बाप की कीमत उनसे पूछो, जिनके माँ-बाप नहीं होते। दुनिया में माँ-बाप ही ऐसे हैं, जो हमें समाज में जायज होने का हक देते हैं।

जिन माँ-बाप ने तुम्हें नजरों में बिठाया है, उन माँ-बाप से कभी नजरें न फेरना। जिन माँ-बाप ने तुम्हारे आँसू पोंछे हैं, बुढ़ापे में कभी उन्हें आँसू नहीं देना। जिस माँ ने तुम्हें नौ महीने कोख में रखा, उस माँ को बुढ़ापे में अपने कमरे में जरूर रखना। जिस माँ ने आँचल का दूध पिलाया, उस माँ का बुढ़ापे में पानी न छीनना। वर्तमान पीढ़ी के युवक-युवतियों से मेरी अपील है कि वे माँ की महिमा समझें और उसे पूज्य मानें; जीवन की अन्तिम साँस तक अपने माँ-बाप का आदर करें और अपनी जनक तथा जन्मभूमि के साथ ही जननी का भी गौरव बढ़ायें। अपरम्पार है माँ की महिमा!

पुस्तक समीक्षा

श्री शिवमहिम्न-स्तोत्र एवं नर्मदा महिमा

व्याख्याकार – प.पू. स्वामी रामानन्द जी सरस्वती
पृष्ठ – १२६, सहयोग राशि – ३०/ रु.
प्रकाशक – मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, पो.– ओंकारेश्वर, जिला – खण्डवा, (म.प्र.) पिन – ४५० ५५४
फोन नं. – ०७२८०-२७१२६७
मोबाइल नं. – ०९४२५९-३९५६७

क्वचित् पुण्यारण्ये 'शिव-शिव' भवानीति जपतः – "हे प्रभु वे दिन कब आयेंगे, जब मैं 'शिव-शिव' का जप-स्मरण-भजन करते हुये किसी पवित्र अरण्य में भ्रमण करता रहूँगा।" यह एक शिव भक्त की व्याकुल प्रार्थना है। ठीक ऐसी ही उच्च अवस्था को प्राप्त वीतराग विद्वान्-साधक दिव्य अनुभूति-सम्पन्न सन्त स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज थे, जो ८० वर्ष की अवस्था में भी गहन-वन-विजन, गिरि-गुफा में पूर्णत: भगवद्-आश्रित होकर परिव्रिजन करते रहते थे। केवल चातुर्मास में वे किसी एक स्थान पर रहकर साधना-सत्संग करते थे। एक ऐसे ही चातुर्मास के अवसर पर पूज्य महाराज जी ने मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, ओंकारेश्वर में विरागी सन्तों की प्रार्थना पर अपने सत्संग में श्री पुष्पदन्ताचार्य द्वारा प्रणीत 'शिव-महिम्न-स्तोत्र' की व्याख्या की थी। महाराजश्री की व्याख्या-शैली सरल-सहज बोधगम्य एवं भावपूर्ण है। अपनी 'शिवतोषिणी' व्याख्या में महाराज श्री ने श्लोकों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं को भी सरल ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे गम्भीर विषय भी सरस एवं सुबोध हो गया है।

वास्तव में पुष्प का सदुपयोग तो भगवान के चरणों में समर्पित होना ही है। मानव-जीवन-रूपी पुष्प का उद्देश्य एवं उसकी सार्थकता भी भगवान के चरणारविन्दों में समर्पित होना ही है। स्तोत्र पुष्प की सातवीं पंखुड़ी – **त्रयी साख्यं योगम् ...** की बड़ी ही प्रांजल व्याख्या महाराज जी ने की है। यह स्तोत्र सिद्ध करता है कि मत-वैचित्र्य होते हुये भी उन सबका एक ही लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति ही है, जैसे सभी नदियों का गन्तव्य स्थान समुद्र है।

भगवान शिव के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का उल्लेख पुष्पदन्ताचार्य जी ने किया है। तथापि शिव-के-सगुण साकार रूप पर उनकी विशेष प्रीति है। वे कहते हैं – औढ़रदानी भगवान शिव स्वयं महायोगी वीतरागी त्यागी हैं, किन्तु अपने भक्तों की सभी मनोकामनायें पूर्ण करते हैं। श्लोक २८ में शिव के अष्टनाम-विग्रहों का वर्णन है, जिसकी सरल स्पष्ट व्याख्या महाराज जी ने की है। श्लोक २७ में ॐ के त्रिगुणात्मक रूप का वर्णन है। श्लोक २९ – **नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो।... नमः सर्वस्मै ते तदितमिति सर्वाय च नमः** – के द्वारा भगवान शिव के सर्वरूप एवं सर्वव्यापी स्वरूप की प्रार्थना और उनके प्रति पूर्णत: समर्पण करते हुये उन्हें बारम्बार नमस्कार किया गया है। स्तोत्र के अन्त में 'शिवोपासना में शंका-समाधान' है, जिस में शिवलिंग का क्या अर्थ है? पूजन कौन करे और कौन नहीं, शिवजी को हल्दी चढ़ाये या नहीं, शिव-विष्णु अभेद हैं आदि प्रश्नों के समाधान शास्त्रीय प्रमाण सहित सरल ढंग से प्रस्तुत हैं।

पुस्तक के अन्त में नर्मदा-महिमा पर पूज्य महाराज जी के अनुभूतिपरक व्याख्यान दिये गये हैं, जिन्हें महाराज जी ओंकारेश्वर आश्रम में ही दिये थे। साथ ही श्री शंकराचार्य प्रणीत नर्मदाष्टक की व्याख्या भी की है और सन्दर्भित पौराणिक आख्यानों को भी सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। माँ नर्मदा महापातकनाशिनी हैं एवं भव-बन्धन जन्म-मरण-पाश उच्छेदिनी हैं। इस पुस्तक में (पृ. १०९) पूज्य महाराज कहते हैं – "माँ नर्मदा की परिक्रमा करनेवालों को पद-पद पर एक विलक्षण अनुभूति होती है। उसको वे आजीवन भूला नहीं पाते हैं। मुझे तो बारम्बार यह अनुभव हुआ है कि इस युग में यदि कहीं मातृ-स्नेह है, तो वह सर्वसमर्थ माँ नर्मदा की गोद में ही उपलब्ध है।"

माँ नर्मदा का पावन जल दर्शन मात्र से मनुष्य को पवित्र कर देता है, जबकि सरस्वतीजी का जल तीन दिन स्नान करने पर, यमुनाजी का जल एक सप्ताह स्नान करने पर और गंगाजी का जल स्नान करते ही पवित्र करता है –

त्रिभिः सारस्वतं तोयं साप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्।। (रेवाखण्ड)

इसीलिए लाखों किन्नर, देवता, असुर आदि अदृश्यरूप में और बड़े-बड़े सिद्ध देवता, ज्ञानी महापुरुष पक्षियों के रूप में माँ नर्मदा के तट पर रहकर उनकी चरण वन्दना करते रहते हैं। माँ नर्मदा साधकों को पुत्र की तरह संरक्षण करती हैं, ऐसा नर्मदा एवं परिक्रमावासी साधकों, सन्तों का अनुभव है।

पुस्तक के मुखपृष्ठ पर नन्दी और शिवलिंग सहित भूत-भावन भगवान शिव की सुन्दर मूर्ति दी हुई है। अन्तिम पृष्ठ पर माँ नर्मदा का भव्य चित्र है, जो भक्तों के चित्त में सहज रूप से भक्ति का उद्रेक करता है। पुस्तक के अन्दर के आवरण पृष्ठों पर पूज्य महाराज जी के दुर्लभ विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न मुद्राओं के चित्र मुद्रित हैं, जो उनकी भौतिक रूप से अनुपस्थिति से उत्पन्न हार्दिक वेदना को किंचित् सांत्वना प्रदान करते हैं।

इस प्रकार यह पुस्तक सबके लिए परम हितकर है। इस प्रांजल अनुभूतिपरक तथ्यों से परिपूर्ण व्याख्यान हेतु मैं पूज्य महाराज जी के चरणों में कोटिश: प्रणाम करता हूँ। जैसे 'हर' के स्मरण से श्री पुष्पदान्ताचार्य की लुप्त शक्ति पुन: प्राप्त हो गयी, वैसे ही हमलोगों पर भी भगवान शिव कृपा करें और हम अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर शिवमय हो जायँ, यही हमारी भगवान शंकर एवं माँ नर्मदा से एकान्तिक प्रार्थना है।

समीक्षक – स्वामी प्रपत्त्यानन्द